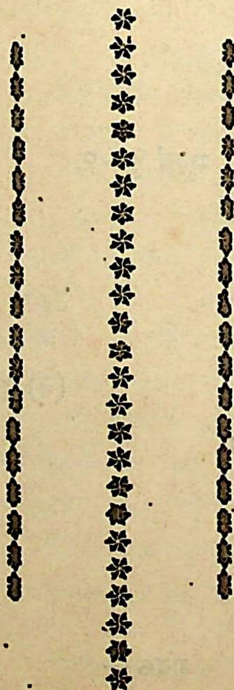
5.2

(आनन्दवनग्रन्थमालायास्तृतीयं पुष्पम्)

वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः



जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

प्रकाशकः

स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

मूल्यं २-००

प्राप्तिस्थानं :—

(१) आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली बंबई ६७

(२) दक्षिणामूर्त्ति मठ
मिश्रपोखरा
वाराणसी

मुद्रक—

गीताधर्म प्रेस, मिश्रपोखरा, वाराणसी ।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयीय-प्राचीनव्याकरणदर्शनागम-विभागाध्यक्षाणां पण्डितप्रवर-श्रीरामप्रसादत्रिपाठि महोदयानां सम्मतिः,

अयं वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिर्मुद्रणोत्तरं मया भूयो भूयो विलोकितः। अस्य च ग्रंथरत्नस्य निर्मातारो यतिवराः श्री स्वामिवर्य्याः काशिकानन्दमहाभागाः श्रीमज्जयमङ्गलाचार्याभिधानाः। अस्मत्सतीर्थ्येष्वन्यतमाः सुहृन्मूर्द्धन्याः स्वीयाऽतुलप्रतिभया चमत्कृतास्मदादिसहाध्यायिवर्गा अतीवसन्तोषित प्रख्यातयशस्क-गुरुवर्ग वाराणसेय विद्वन्मूर्द्धन्यवर्गाश्च। यैः खलु वैदिकाऽवैदिकाशेषदर्शनविद्भिः उपदश वेदान्तग्रन्था मूलभूता व्याख्यारूपाश्च विलिख्य प्रकाशिताः। उपषोडशाश्च न्यायग्रंथा नव्यप्राच्यभेदाभ्यां मूलव्याख्याभेदाभ्यां च भिन्नाः। जैनचार्वाकदर्शन-सिद्धान्तप्रतिपादकाश्च ग्रंथा विधाय प्रकाशिताः। अन्येऽपि प्रवचनग्रंथा एतैर्महानुभावैर्विनिर्मिताः परमांस्तुतिमाप्नुवन्ति लोके। इमं च ग्रन्थं विलोकयतः स्वान्ते संक्षेपशारीरकं स्मृतिपथमवतरति। तत्र संक्षेपशारीरकमव्यक्तब्रह्मप्रतिपादनपरं तदा-नुगुण्येन चान्यानपि वेदान्तसिद्धान्तान् विवृण्वत् काठिन्येन कष्टायकं चेतसः। अयन्तु ग्रन्थो भक्तमुपासनाभ्यामपि वर्ण्यत्वेन समुपेतः सरसः सरसौरस इव प्रसरति जाति स्वतृष्णाग्भिः सादरं सस्पृहं च विलोकितः। पद्यवद्धतया च वेदान्तसिद्धान्तान् ाः स्मृतिविषयतां नयन् संगृह्णाति। एनञ्च विलोक्य मम मनसोऽनवधी अनयनौ-त्र मौदप्रमौदौ समभूतां सम्भवतश्च। अतोऽहमर्थये विदुषो विनेयांश्चास्य वेदान्त-सिद्धान्तकुसुमाञ्जलेराघ्राणसंकल्पेन सफलेन संमदमासादयन्तु। इति।

रामप्रसादत्रिपाठी प्राचीनव्याकरणदर्शनागम
विभागाध्यक्षः

दिनांक :

वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

साधनसधनोऽमानी मानपरोऽमेयमेरतत्त्वज्ञः ।
स्वध्याग्री स्वाध्यायी जयताज्जयमङ्गलाचार्यः ॥ १ ॥
पृथ्वी भव पृथ्वि त्वं त्यज भानि नभः प्रवेहि वायुर्दधे ।
प्रसरति यशसा [illegible] समेति जयमङ्गलार्णवसेः ॥ २ ॥

प्रस्तावना

वेदान्त की प्रक्रियायें भाष्यादि आकर-ग्रन्थों में विकीर्ण पड़ी हैं। इन्हें एकत्रित करना उतना ही परिश्रम का काम है जितना कि समुद्र में गोता लगाकर मोती निकालना है। परंतु इन मोतियों को ढूँढ कर बाहर लाने में पूर्वाचार्यों ने ही विपुल प्रयास किया है। पंचदशी, वेदान्त-परिभाषा एवं सिद्धान्तलेशसंग्रहादि उसी प्रयास के मूर्त्त रूप हैं।

पञ्चदशी प्रक्रियाओं को समझाने में सर्वमूर्धन्य मानी जाती है। परंतु वह प्रमाण एवं अन्यान्य अनेक प्रतिपाद्य वस्तुओं के बारे में सर्वथा मौन है। कारण, वह एक मननात्मक ग्रंथ है। उस में उन पदार्थों के निरूपण की विशेष संगति नहीं बैठती। संभवतः इसी कमी की पूर्ति के लिये वेदान्तपरिभाषा का आविर्भाव हुआ। परन्तु वह तो प्रमाणनिरूपण में ही अपनी अधिकांश शक्ति का विनियोग कर देती है। सिद्धान्तलेश-संग्रह अवश्य ही एक महान् ग्रन्थ है। किन्तु उस में जिन विषयों पर अनेक मतमतान्तर हो गये हैं उन्हीं का ही प्रायः निरूपण हुआ है। यही स्थिति अन्य ग्रंथों की भी है। ऐसी अवस्था में विद्वानों का यह कहना अस्वाभाविक नहीं है कि वेदान्त में ऐसा कोई सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ नहीं है जो सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को संक्षेपतः समझाता हो, जैसे न्यायशास्त्र सांख्यशास्त्रादि में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि हैं।

इस अभाव की पूर्त्ति के लिये बहुत समय से मेरे मन में विचार हो रहा था। उसी से प्रेरित होकर मैंने प्रथम वेदान्तमन्दारतरु नाम का एक विशालकाय ग्रन्थ लिखा, जिसमें लगभग छः हजार अनुष्टुप श्लोक और कुछ आर्यायें लिखी गयी। श्लोकों में श्रुति न्यायादि का पूरा उद्धरण एवं अन्यान्य परिष्कार संभव न होने से उस की एक विवृति भी लिखना

मैंने प्रारम्भ किया। इसी बीच संवत् २०२२ में श्रावण पुरुषोत्तम मास आया उस समय विचार में कुछ परिवर्त्तन हुआ। सोचा कि यह विशाल काय ग्रन्थ सामान्योपयोगी नहीं बन सकेगा, अतः एक छोटा ग्रंथ बनाया जाय। तदनुसार उसी मास में वेदान्तमन्दारतरु का ही सार लेकर लग भग ढाई सौ श्लोकों में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। उस मास का ही यह प्रभाव हुआ कि पूरा ग्रंथ पुरुषोत्तम भगवान् का ही स्तुतिरूप हुआ। प्रायः प्रत्येक श्लोक में भगवान् का स्मरण किया गया है, अत एव भगवच्चरणसमर्पित पुष्पांजलि के समान होनेसे इस का नाम पुष्पांजलि या कुसुमाञ्जलि रखा गया। उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि और जगद्धरभट्ट की स्तुतिकुसुमाञ्जलि प्रसिद्ध है, अतः इसका नाम केवल कुसुमाञ्जलि न रख कर वेदान्त सिद्धान्तकुसुमाञ्जलि रखा गया।

सामान्य जनता के लाभार्थ श्लोकों का हिन्दी अनुवाद साथ में दिया गया है। ग्रन्थ का कलेवर न बढ जाय इस दृष्टि से हिन्दी भाषा को परिमार्जित रूप से बनाकर लिखने का प्रयास नहीं किया, फिर भी वृद्ध जिज्ञासुओं की निरन्तर शिकायत के फलस्वरूप श्लोक और हिन्दी को मोटे टाईपों में करना पड़ा जिससे ग्रथ्थ का कलेवर अन्ततः कुछ बढ ही गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो प्रकार के श्लोक हैं। एक नमस्कारात्मक और दूसरे भगवत्सम्बन्धितार्थप्रतिपादनात्मक हैं। इन में नमस्कारादि रूप श्लोकों में प्रायः ग्रन्थ के विषयों का संक्षेपीकरण है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोकों का अनुशीलन करें:—

ग्रन्थ का सारः—

आनन्दकन्दवपुषे पुरुषोत्तमाय
तस्मै नमोऽनुदयदस्तमयत्प्रभाय।
विश्वं यतो भवति जीवति शाम्यतीद-
मात्मानमागमवचांसि यमामनन्ति॥

(१) प्रथमस्तवक का विषयः—

सत्कर्मनिर्मलहृदः सदुपासनास्त-
विघ्निप्रयः सकलसाधनसंपदाढ्याः।
पश्यन्ति यं श्रुतिसमाधियुजा श्रुतेन
तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय॥

(२) द्वितीयस्तवक में प्रत्यक्षः—

यो नर्त्तकादिमिव चित्रपटप्रदीपोऽ-
हंकार बुद्धिविषया ह्यवस्तुजातम्
देवः प्रकाशयति तद्विरहेऽपि भाति
साक्षादहं तमपरोक्षमनुस्मरामि॥

अनुमानः—

सर्वत्र नो व्यभिचरत्यविरुद्धरूपो
योऽबाधितः प्रभुरसत्प्रतिपक्षकक्षः।
यश्च स्वयंप्रभ इति स्वयमेव सिद्ध-
स्तं सर्वहेतुमनिशं भगवन्तमीडे॥

उपमानः—

यस्योपमानं न हि किंचनाथाप्यौपम्यतः संप्रतिपद्यते यः।
बोधस्वरूपोऽप्यवबोध्यमानः श्रीशं तमीशं शरणं व्रजामः॥

शब्दः—

आकाङ्क्षन्ति मुमुक्षवोऽन्वयविधौ योग्यं समस्तेय-
त्तात्पर्येण सदातिसंनिधियुतं यन्मार्गयन्ते बुधाः।
यच्च श्रीमदनन्तशक्तिसहितं गच्छन्त्यमूढाः परं
तद्वन्दे पदमैशमौपनिषदं मानान्तरागोचरम्॥

---

(१) प्रथमस्तवक में कर्म, उपासना, साधनचतुष्टय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आत्मदर्शन मुख्य विषय हैं॥

(२) द्वितीयस्तवक में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, भ्रम ये मुख्य विषय हैं।

अर्थापत्तिः—

आपद्यते यः श्रुतिदृष्टरूपा-दर्थादशेषावधिरद्वयोऽर्थात् ।
सर्वार्थदं श्रीलमनापदं श्रीनारायणं तं शरणं प्रपद्ये ॥

अनुपलब्धिः—

कालत्रयाबाधितरूपतोऽमुं प्रपञ्चमप्रेक्ष्य विचक्षणा यम् ।
तुच्छं परिच्छिन्नवपुर्निषिध्य पश्यन्ति विष्णुंसमुपास्महे तम् ॥

भ्रम तथा स्तवकार्थः—

इदं जगद्रज्जुभुजङ्गविभ्रमं स्वसं प्रतिष्ठःखलु योऽधितिष्ठति ।
तमस्तिभातिप्रियरूपभाविनं विनम्रभावं पुरुषोत्तमंस्तुमः ॥

(३) तृतीयस्तवक में दृग्दृश्यनिरूपणः—

ब्रह्मेशजीवादिकसप्तहस्तं द्विसाक्षिशोर्षं खचतुष्कशृङ्गम् ।
विश्वादिपादत्रयमीशमीडे त्रैगुण्यबद्धं पुरुषर्षभं तम् ॥

सृष्टि प्रलय और स्तवकार्थः—

एकोऽपि सन् बहुविधः समभूत् स्वकीय-
मायावशात्पुनरनन्तविधोऽपि देवः ।
याथार्थ्यतः समधितिष्ठति योऽद्वितोयो
वन्दामहे निरुपमं पुरुषोत्तमं तम् ॥

(४) चतुर्थ स्तवक में विचारात्मक निदिध्यासन ः—

योऽयं व्योमद्यनुगततनुः स्थूलासूक्ष्मादिसाक्षी
साक्षी चेता सदितिविदितः पञ्चकोशाद्विविक्तः ।

---

(३) तृतीयस्तवक में सात चैतन्य, दो साक्षी, चतुर्विध आकाश की उपमा, विश्वादि तीन, त्रिगुणात्मक माया, उससे जगत् का नानात्व और वस्तुतः अद्वैतभाव ये विषय मुख्य हैं।

(४) चतुर्थ स्तवक में विचारात्मक निदिध्यासन (अर्थात् अनुगत सत्, शरीरत्रयसाक्षी, पञ्चकोशविवेक, कृतोपास्ति आदि विचार तुर्यगा-

धीदयं साक्षाद्विहितमहितोपास्तिभिस्तुर्यगायां
देवं वन्दे तमनिशविचारात्थविद्याभिवेद्यम् ॥

योगात्मक निदिध्यासन :—

सयमनियमैरासीनैरायतासुभिराहृत-
स्वगवनिवहैवद्धस्वान्तैः स्थिरं हृदयाम्बुजे ।
विततभगवद्ध्यानैर्युक्तैरबीजसबीजयो-
र्विमलमवलोकन्ते यन्तं पुमांसमुपश्रये ॥

उपासनात्मक निदिध्यासन :—

अहंग्रहोपासनया विदुर्यं गुणैः परोपासनया च सन्तः ।
उपास्महे तं पुरुषं महान्त-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

स्तबकार्थ :—

विचारतः सहजसमाधिमान् हि यं निरोधतः सविधसमाधिमानपि ।
उपासनान्नियमसमाधिमानुत प्रपद्यते तमहमुपैमि पूरुषम् ॥

चार स्तबकों का सार :—

योऽसाध्यः सन् साध्यते साधनौघैर्यो वामेयो मानसामान्यमेयः ।
योऽसंदृश्योऽभ्याससंदर्शनीयोऽवन्द्यं वन्देऽपूरुषं पूरुषं तम् ॥

सर्वतात्पर्य :—

वेदाः समे यत्पदमामनन्ति योगास्तपांस्येव यदापयन्ति ।
उपास्यते ब्रह्म यदिच्छया तत् पदं प्रपद्ये पुरुषोत्तमस्य ॥

पर्यन्त सप्तभूमिका का विचार) योगात्मक निदिध्यासन और उपासना, (अर्थात् अहंग्रहोपासना, गुणोपासना प्रतीकोपासना आदि) ब्रह्म में सर्वशास्त्रसाधनादितात्पर्य, चारों स्तबकों का अभिप्राय, ग्रन्थ की सफलता और भगवान के चरणों में पुष्पाञ्जलि रूप से समर्पण ये विषय प्रतिपादित हुए हैं ।

ग्रन्थसाफल्य और समर्पण :—

यो मृत्योरसतोऽपि सद् गमयते पूर्णं स्वरूपामृतं
योऽविद्यातमसः समं गमयति ज्योतिः प्रबोधाभिधम् ।
दुःखाब्धेः सहसोद्गमय्य नयति स्वानन्दबोधाम्बुधिं
सोऽयं श्रीशपदार्पितो विजयते वेदान्तपुष्पाञ्जलिः ॥

चारों स्तबकों के विषयविभाग करने में भी एक विशिष्ट तरीका अपनाया गया है। प्रथम स्तबक साधननिर्देशप्रधान होने से साधनों का प्रतीक है। द्वितीय स्तबक में प्रमाणनिरूपण है। श्रवण प्रमाणा संभावना का निवर्त्तक है इस सांप्रदायिक प्रसिद्धि से द्वितीय स्तबक श्रवण का प्रतीक हो जाता है। तृतीयस्तबक में प्रमेयनिरूपण है। मनन प्रमेयासंभावना-निवर्त्तक है इस प्रसिद्धि से तृतीय स्तबक मनन का प्रतीक है। चतुर्थ स्तबक में स्पष्टतया निदिध्यासननिरूपण है अतः वह निदिध्यासन का प्रतीक हो जाता है। सभी स्तबकों में परमात्मदर्शन की चर्चा है ही। फलतः साधन, (साधनचतुष्टयपर्यन्तसाधन) श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार ग्रन्थ का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है।

विवेचना-शैली

यद्यपि सर्वसाधारण बनाने की दृष्टि से ही मतमतान्तरों के झमेलों को छोड़कर सीधी सादी भाषा में पदार्थनिरूपण किया है। वेदान्त-परिभाषा पढते समय छात्रवर्ग यह शिकायत करने लगते हैं कि शक्ति-निरूपण में अथवा करके कई मत दिखाने से और जीवेश्वरादिस्वरूप-निरूपण में नाना मत प्रदर्शन करने से एक भी सिद्धान्त दिमाग की पकड़ में नहीं आता। वैसी शिकायत न आने पाये यह ध्यान रखा गया, फिर भी कहीं कहीं मतभेद दिखाना ही पड़ गया है।

सौरभटीका

दार्शनिक भाषा में पदार्थनिरूपणार्थ और मूल के अन्तर्निहितार्थ के प्रकटनार्थ एक व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत होने से सौरभ नाम की लघुटीका का भी निर्माण किया। परन्तु लिखने बैठते हैं तो दार्शनिक

का यह अनुभव है कि सरल करने पर भी कहीं कठिन हो जाता है। सौरभ भी इस का अपवाद नहीं बन सका।

कुछ विशेषतायें

प्रस्तुत मूल तथा टीका ग्रन्थ में किसी जगह नवीन विचारधारा, कहीं प्राचीनों का विशेषसमर्थन आदि विशेतायें भी हैं। उदाहरणार्थः—

(१) 'जाततत्त्वसाक्षात्कारोऽपि लोकसंग्रहार्थं मङ्गलमातनोति'

इस खण्डनभूषामणि पङ्क्ति से साक्षात्कारोत्तर दुरित न होने से तत्प्रयुक्त विघ्न का ध्वंस मंगल का फल नहीं है यह प्रतीत होता है। उसे सौरभ में अंगीकार नहीं किया है। कारण तत्त्ववेत्ताओं को भी व्याधि कष्टादि देखने में आता है। तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध दुरित नष्ट होता हो तो तत्त्ववेत्ताओं को दुःख कष्टादि नहीं होना चाहिये था। अतः कुछ दुरित उन में भी रहता ही है।

(२) बादलों में हाथी घोड़े आदि का रूप दिखाई देता है। किन्तु नजदीक जाने पर नहीं दिखाई पड़ता। अर्थात् आंखों में ग्रहणशक्ति पूर्णरूप से न होने से हाथी घोड़ा आदि मालूम पड़ते हैं इसी प्रकार घटादि का भी रूप विश्लिष्टग्रहण करने में पटुता न होने से दिखाई पड़ता है। वस्तुतःघटादि भी दूर दूर स्थित अणुओं का समुदाय मात्र है। मैस्कोप आदि से यह स्पष्ट सिद्ध होता है। और अणु भी अन्ततः शक्तियों की गति में कल्पित है। इस वैज्ञानिकविश्लेषण से सारा जगत् दृष्टि सृष्टि सिद्ध होता है।

(३) चक्षु आदि इन्द्रिय विषय की छाया को ग्रहण करती है, न कि इन्द्रियां विषय देश में जाती हैं इस सुरेश्वराचार्यमत का ही मूल में और सौरभ में ग्रहण किया है। केमरे में वस्तु की छाया आती है टेलीविजन में वस्तु का रूप आता है न कि केमरा आदि रूप के पास जाते हैं। अतः सुरेश्वराचार्यमत ही विज्ञानसंगत है।

(४) व्याप्ति भगवान की नियतिरूपी शक्ति है। नैयायिकों का परिष्कार तो हालिकसाधारणानुमिति का कारण नहीं बन सकता। और

पक्षधर्मताज्ञान न होने पर भी सामान्यानुमिति होती है।

(५) उपमान से शक्तिग्रह नहीं किन्तु इतरव्यवच्छेद ही फल होता है।

(६) वाक्य प्रमाण है, पद नहीं। तात्पर्य नियतकारण नहीं, क्वचित् सहायक मात्र है।

(७) जाति, क्रिया, गुण और सम्बन्ध से विशिष्ट में पदशक्ति है, केवल जात्यादि में नहीं।

(८) वेदान्तपरिभाषाकार ने तत्त्वमसि आदि में भागत्यागलक्षणा न मान कर एकदेशान्वय स्वीकार किया है। वह वेदान्त पर कुठाराघात है सर्वथा वेदान्तविरुद्ध है। केवल अन्वय लगाना ही वेदान्त का प्रयोजन नहीं है। महावाक्य से अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न करना आवश्यक है। एकदेशान्वय करने से वृत्ति में इतरांश का भी भान होने से वह अखण्डाकार नहीं हो सकती। कन्यामुन्दुरुः प्रविष्टः में अन्वय लगा कर कृतकृत्यता मानने के बराबर ही यह परिभाषाकार का मत है। यद्यपि एकदेशान्वय से वाक्यार्थ तो बनेगा परंतु वेदतात्पर्य भी देखना आवश्यक है। तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणाबीज है। बल्कि संक्षेपशारीरकादि में यह स्पष्ट बताया है कि सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादि अनात्मांशपरित्याग ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का प्रयोजन है। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से वह प्रत्यक्ष ही है।

इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों में विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है। पाठकगण स्वयमेव निपुणनिरीक्षण से सब का अवगाहन कर सकेंगे। यहां एक दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

अन्त में उन व्यक्तियों को हार्दिक धन्यवाद है जिन्होंने अपने नाम की अपेक्षा रखे बिना ही पुस्तक-मुद्रण के लिये मुद्रादि प्रदान कर हमें प्रोत्साहित किया।

होली २०२४ ग्रन्थकर्ता

* *

श्रीः

वारणासेयसंस्कृतविश्वविद्यालयभूतपूर्ववेदान्तविभागाध्यक्षाणां

पण्डितप्रवर श्री रघुनाथशर्मणां सम्मतिः

अयं वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सर्वश्रुतिस्मृतिसारभूत इति इमं विलोकयतः कस्य न विपश्चिदपश्चिमस्य स्वान्तमभ्युपैति। (१)

सर्वोऽपि वेदान्तसिद्धान्तः समासतोऽत्र सारल्येन प्रदर्शितः। अतोऽहं वेदये विदुषश्छात्रान्मुमुक्षूंश्च जिज्ञासून् यदयमद्वैत-सिद्धान्तप्रतिपादनपरः परो ग्रन्थः सुमनस इव मनःप्रसादनपरः श्रम– श्रद्धा—वधानैर्द्रष्टव्य इति।

फाल्गुनशुक्लाष्टमी — रघुनाथशर्मा

विक्रमाब्दः २०२४ — (छाता, बलिया)

---

(१) इतः परं पण्डितप्रवरैरातृतीयस्तबकान्तप्रकृतग्रन्थश्लोकानां भावः श्रुत्यादिसम्बन्धश्च विस्तरशः प्रदर्शितोस्ति। यथाः—"तथा हि प्रथमे पद्ये आनन्दकन्दवपुषेइत्यनेन—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति इति श्रुतिः पुरुषोत्तमाय इत्यनेन—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। इति गीतावचोरूपा स्मृतिः, द्वितीयपादेन च नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिः, तृतीयपादेन च तज्जलानिति शान्त उपासीत इति श्रुतिः, चतुर्थपादेन च तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मीत्यादीनि अद्वैतप्रतिपादनपराणि महावाक्यानि संगृहीतानि"। इत्यादि। कार्त्स्न्येन मुद्रणं तु चतुर्थस्तबकविचारोत्तरमेव सम्यग् भविष्यतीति कृत्वा अत्र लेखस्याद्यन्तावेव भागौ संमतित्वेन मुद्रितौ।

दुस्तर्कमोहकलिलाम्बुधिमध्यमग्ना-
मप्युद्धरन् श्रुतिगवीमवराहरूपः ।
जह्रे भदन्तविषकूटमकण्ठकालो
नारायणो जयति कोऽपि स शङ्कराख्यः ।



श्री जयमङ्गलाचार्य (स्वामी काशिकानन्द) विरचितः

वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः

प्रथमः स्तबकः

आनन्दकन्दवपुषे पुरुषोत्तमाय
तस्मै[1] नमोऽनुदयदस्तमयत्प्रभाय ।
विश्वं यतो भवति जीवति शाम्यतीद-
मात्मानमागमवचांसि यमामनन्ति ॥१॥

उदय एवं अस्तमयरहित स्वयं प्रकाश आनन्दकन्द

सौरभम्

सच्चिदानन्दरूपाय गुरवे विश्वरूपिणे ।
तत्त्वमस्यादिलक्ष्याय साक्षिणे ब्रह्मणे नमः ॥
वेदान्तमन्दारतरौ प्रदर्शिता ये विस्तरादर्थचया मया पुरा ।
विहाय जल्पं मतभेदमप्यतः संक्षेपतोऽत्राकलितान् व्यनज्मि तान् ॥

---

१. तस्मै नमोस्त्वनुदयास्तमयप्रभाय इति प्रथमलिखितपाठः ।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान को हम प्रणाम करते हैं जिससे यह विश्व उत्पन्न होता है जीवित रहता है और विलीन होता है, वेदवाणी जिसको आत्मरूप से वर्णन करती है ॥१॥

अथ तमेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथेत्यादिश्रुतेः परमेश्वरस्मरण-शून्यस्य परमेश्वराऽप्रतिपादकस्य च वचोजातस्य हेयत्वं प्रतिपद्यमानः सर्वस्याः प्रक्रियायाः परमेश्वरप्रतिपादनपरत्वं निरूपयिष्यन् प्रारिप्सितग्रन्थ-परिसमाप्तिपरिपन्थिनं प्रत्यूहसमूहमपोहितुमभिधेयप्रयोजनादिकं चावगमयितुं लोके वेदे च प्रथितं भगवन्तं पुरुषोत्तमं प्रणमन् मङ्गलमातनोति—आनन्देति। शिष्टाचारानुमितस्मृतेस्तन्मूलश्रुतेश्च मङ्गलस्य प्रत्यूहसमूहा-पोहनादिहेतुत्वं बोध्यम्। ब्रह्मज्ञानिनामुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशसंभवेऽपि फलदर्शनेन प्रारब्धस्यापलपितुमशक्यतया मङ्गलस्य दुरितविशेषप्रशमन-हेतुत्वं संभवत्येवेति सर्वं चतुरस्रम्। खण्डनभूषामणिकृतस्त्वभ्युपेत्य प्रारब्धनाशकत्वं तत्त्वज्ञानस्यान्यप्रयोजनतां मङ्गलस्याललम्बिरे।

आनन्दकन्देति परमपुरुषार्थत्वसूचनेन प्रयोजनकथनम्। तस्या-नित्यत्वेऽप्रकाशत्वे च पुरुषार्थत्वं न घटत इत्यतो विशिनष्टि—अनुदय-दिति। न उदयन्ती अस्तमयन्ती च प्रभा यस्य तस्मै। नोदेति नास्त-मेत्येषा संविदेका स्वयंप्रभेति हि वेदविदो वदन्ति। एवं स्वरूपलक्षणम-भिधाय तटस्थलक्षणमाह—विश्व यत इति। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति श्रुतेर्जगतोऽभिन्न-निमित्तोपादानं ब्रह्म सिद्ध्यति। मूले यत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। तथैवाहुः सूत्रकृतोऽपि जन्माद्यस्य यत इति। वाचारम्भणं विकारो नाम-धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः कार्यस्य जगतो मिथ्यात्वेन द्वैतप्रसक्त्य-भावेऽपि जीवपरभेदप्रयुक्तं द्वैतवत्त्वं स्यादित्याशङ्कां निराकुर्वन्नेव जीवपरैक्य-लक्षणमभिधेयं प्रदर्शयति—आत्मानमागमवचांसीति ॥१॥

यज्ञादिभिर्विविदिषन्ति विशुद्धसत्त्वा
यं ब्राह्मणाः सुरपतेऽप्रतिबन्धगन्धाः ।
प्रेप्सन्ति यं मुनिवरास्तपसा भवन्त-
माद्यं गुरुं नरहरिं तमभिष्टवीमि ॥ २ ॥

यज्ञदानादि सत्कर्मों के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध कर तथा प्रतिबन्धकों का उन्मूलन कर मेधावी पुरुष जिसको जानने की कोशिश करते हैं, एवं तप के द्वारा मुनिगण जिसको प्राप्त करना चाहते हैं उस सर्वगुरु नरहरि भगवान् की हम स्तुति करते हैं ॥२॥

अभिधेयप्रयोजने संक्षेपतः प्रदर्शिते। अर्थाच्च प्रतिपाद्यप्रतिपादक-भावादयः सम्बन्धाः प्रदर्शिताः। विस्तरस्तु वेदान्तमन्दारतर्वादौ. अधिकारी तु विशेषेण निरूपणार्ह इत्ययमुरक्रमः। तत्र कर्मोपास्त्यादिभिर्बहिरङ्गसाधनै-रपक्षिप्तमलविक्षेपा अन्तरङ्गेण साधनचतुष्टयेन सम्पन्ना इहाधिकारिण इत्याशयवान् प्रथमं कर्म तत्प्रयोजनं च तत्रश्च वदन् भगवन्तं पुनः स्तौति यज्ञादिभिरिति। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तकाम्यलक्षणानां चतुर्णां वैधानां प्रथमानि त्रीणि दुरितापोहनद्वारा सत्वशुद्धिकारणानि। इयांस्तु विशेषः। नित्यनैमित्तिकयोरकरणे प्रत्यवायो न प्रायश्चित्तस्य। नन्वकरणस्याभावा-त्मकस्य कथं भावात्मकप्रत्यवायजनकत्वम्। न च तदकरणकालीनकर्मान्त-रस्य तत्त्वमिति वाच्यम्। प्रायश्चित्ताऽकरणकालीनकर्मान्तरस्यापि तथात्वेन तौल्यात्। सन्ध्यावन्दनादेर्नित्यस्य शीघ्रकरणेऽवशिष्टसमयकृतकर्मान्तरस्य प्रत्यवायजनकत्वापत्तेः सन्ध्यावन्दनादिसमयकृतस्वाध्यायाध्ययनादेः प्रत्यवाय जनकतायाः संभावयितुमशक्यत्वाच्च। उच्यते। ससारः स्वयमेव दुःखरूपः।

वक्ष्यति च "निष्पिष्टनिम्बगुटिकासदृशः स्वभावात् सर्वोऽपि दुःखकटुको विषयप्रपञ्च" इति। आजीवनमधिकारिनिर्वर्तितनित्यनैमित्तिककर्माणि तु जन्मान्तरीयदुःखसंसारावरणकारिणोऽस्फुटानन्दप्रतिबिम्बग्राहकवृत्तिविशेषानुद्भावयददृष्टविशेषं जनयन्ति। तदभावे संसारो दुःखरूपेणाविर्भवतीत्यकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वव्यपदेशः। कर्मान्तराणि तु स्पष्टानन्दप्रतिबिम्बग्राहकवृत्तिविशेषोद्भवकादृष्टकारणत्वात्पुण्यजनकान्युच्यन्ते। तच्च वक्ष्यति माध्वीकबिन्दुकणिकाभिरिवाभिलिप्तस्त्वत्सङ्गिवृत्तिभिरयं मधुरो विभातीति। त्वत्सङ्गिवृत्तिभिः आनन्दरूपभवत्प्रतिबिम्बग्राहिवृत्तिभिः। सन्ध्यावन्दनकालीनपुण्यकर्मान्तराणां यत्किंचित्कालवर्त्यानन्दमयवृत्तिजनकत्वेऽपिदीर्घकालीनतथाविधवृत्त्यजनकत्वान्न सन्ध्यावन्दनादिनैरर्थक्यशङ्कापि। त्रैगुण्यतारतम्याच्च दुःखोत्कर्षापकर्षाविति पापस्य दुःखजनकत्वव्यपदेशः। पुण्यस्यापि संसारप्रयोजकस्य पापाविशिष्टत्वमत एव भाष्याद्युक्तं सूपपद्यते।

परे तु नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयमिति वचनाद्दुरितक्षयहेतुत्वान्नित्यादीनामकरणे प्राकृतान्येव दुरितान्यप्रध्वस्तान्यवतिष्ठन्त इति प्रत्यवायजनकत्वमकरणस्य व्यवह्रियते। न चैवं प्रायश्चित्ताऽविशेषः। दुरितविशेषनाशकत्वेनैव तद्वैलक्षण्यादिति वदन्ति।

काम्यकर्मणां संयोगपृथक्त्वन्यायेनान्तःकरणशुद्धिप्रभृतिहेतुत्वम्। तथा च श्रुतिः "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने" ति। सूत्रे यज्ञादीत्यादिपदेन श्रुत्युक्तानां दानादीनां नित्यनैमित्तिकादीनां च परिग्रहः। तपसो वैशिष्ट्यात्पृथग्ग्रहणम्। कृच्छ्रादिकं तपः। सूत्रे श्रुतौ च ब्राह्मणपदं विशुद्धाचरणादिगुणविशिष्टोपलक्षणम्। जनकादीनां क्षत्रियादीनामपि ज्ञानविविदिषादिप्रसिद्धेः। एवमेवात्र भाष्यमपि। सत्त्वशुद्धिसत्त्वेऽपि पूर्वजन्मनि वामदेवादेः प्रतिबन्धविशेषेण ज्ञानानुत्पत्तिदर्शनात्प्रतिबन्धकविशेषविरहेऽपि सत्त्वशुद्धेः प्राक् तत्त्वज्ञानानुत्पत्तेश्च विशुद्धसत्त्वाः अप्रतिबन्धगन्धा इत्युभयोः पृथगुपादानम्। आद्यं गुरुमिति। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदादिति पातञ्जलस्मरणात्॥ २॥

शृण्वन्तस्तव नाम वामचरितं संकीर्त्तयन्तो बुधा
ध्यायन्तश्च तदेव तत्परतया त्वत्पादसेवारताः ।
अर्चाद्यर्चनवन्दनोत्कमनसो दास्येन सख्येन च
प्रेप्सन्त्यात्मनिवेदनेन च समासाद्यं शमाद्यं हरे ।३

हे भगवन् ! आपका नाम तथा मनोहर लीलाचरित्र सुनते हुए एवं उसी का तत्परता से संकीर्त्तन तथा ध्यान करते हुए आपके चरण सेवा परायण, अर्चन तथा वन्दन में समुत्कण्ठचित्त बुधजन दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन के द्वारा ज्ञानार्थ सम्पादनीय शमदमादि को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । (इस श्लोक में श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूपी नवधा भक्ति को शमदमादि साधन चतुष्टय का कारण बताया है ।) ॥३॥

यमनियमरताः, स्थिरासनाश्च—
यतमरुतो नियतेन्द्रियप्रचाराः ।

शृण्वन्त इति । श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनमिति प्रह्लादोक्ता नवधा भक्तिर्ज्ञानवैराग्य-सम्पादनहेतुः । शमाद्यमिति । शान्तो दान्त इत्यादिश्रुतेः ।

यमेति । अष्टाङ्गयोगोऽपि विविदिषूणां वेदनोपयोगी । तत्राहिंसास-त्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधा-

दधति विहितधारणाः समाधिं
विविदिषवो भवदेकताननताकाः ॥४॥

विविदिषु साधक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान परायण होकर समाधिस्थित होते हैं। (इस श्लोक में अष्टाङ्ग योग को विक्षेपनिवृत्ति साधन सूचित किया है।) ॥ ४ ॥

प्रेमस्वरूपां प्रतिलभ्य भक्तिं
सर्वात्मना त्वां शरणं प्रपन्नाः।
विक्षेपमत्यन्तमपाक्षिपन्ति
त्वया प्रभोऽपास्तसमस्तपापाः ॥५॥

नानि नियमाः। स्थिरसुखमासनम्। श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। अग्रे कृतोपास्तयोऽकृतोपास्तयश्चेति द्विविधा ज्ञानिनो वक्ष्यन्ते। योगिनः कृतोपास्तिमध्यगता इति जीवन्मुक्तिसुखानुभवहेतुरपीदं योगाङ्गानुष्ठानमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

मोक्षसाधनसामग्र्यां गरीयसीं भक्तिमाह—प्रेमेति। प्रेम्णः स्वरूपमाह देवर्षिर्नारदः गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपमिति। सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यत इत्यपरे। विक्षेपमित्यादि। साधनान्तराणामनायासलभ्यत्वाद्ददामि बुद्धियोगमिति भगवानाह। समस्तपापा इति। ज्ञानप्रतिबन्धकीभूतेत्यादिः ॥५॥

सर्वात्मभाव से आपकी शरण में आये हुए भक्त प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त कर चित्तविक्षेप को सर्वथा हटा लेते हैं। हे प्रभो आप ही उन प्रेमी भक्तों के समस्त पाप को दूर करनेवाले हैं। (प्रेमलक्षण भक्ति विक्षेप की सर्वथा निवृत्ति में कारण यहाँ कहा गया है) ॥५॥

विवेकवैराग्यशमादिषट्क-
सम्पत्तिभाजश्च मुमुक्षवस्त्वाम्।
द्रष्टुं हि शृण्वन्ति गिरः श्रुतीनां
मत्या निदिध्यासनया च नित्यम् ॥६॥

हे भगवन्! विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्वरूपी साधनचतुष्टय से युक्त पुरुष आत्मस्वरूप आपके दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन नित्य करते हैं ॥६॥

अथान्तरङ्गसाधनान्याह—विवेकेति। विवेको वैराग्यं शमादिषट्क-सम्पत्तिः, मुमुक्षुत्वमिति चत्वारि साधनानि। चो ह्यर्थे। अन्तरङ्गतराणि साधनान्याह—शृण्वन्तीति। श्रवणमनननिदिध्यासनेषु श्रवणस्य प्राधान्याच्छृण्वन्तीति लकारप्रयोगः। महावाक्यश्रवणं वक्ष्यमाणमन्तरङ्गतममिति ज्ञेयम्। फलमाह—द्रष्टुं हीति। आत्मदर्शनं फलम्। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतेरिति भावः। आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति न्यायं सूचयितुं नित्यमित्युक्तम् ॥६॥

सत्यस्वरूपोऽस्यविकारहेतो-
रसत्यरूपः क्षणिकः प्रपञ्चः ।
इत्थं विवेकेन विरज्य सन्त-
स्त्वामेव भूमन् शरणं व्रजन्ति ॥७॥

(नित्यानित्यवस्तुविवेकरूपी प्रथम साधन का स्वरूप कहते हैं) हे परमात्मन् ! आप सत्यस्वरूप हैं क्यों कि निर्विकार हैं। और यह जगत् असत्यरूप हैं क्यों कि क्षणिक है। इस प्रकार विवेक होने से सन्त लोग विषयों से विरक्त हो आपकी ही शरण में आते हैं ॥७॥

विवेकादिसाधनानि मुख्यत्वाद्विशदयति—सत्येति। ब्रह्मैव सत्यं तदन्यदखिलं मिथ्येति ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति संप्रदायविदो विदन्ति। नन्विदं ज्ञानं वेदान्तश्रवणात्प्रागेव कथं सम्पद्यत इति चेद् ? उच्यते। क्षणिकस्य घटादेराद्यन्तविहीने कालेऽतितुच्छतामवगच्छतो भवति मतिरहो महाकालेऽस्य भवनमभवनमपि भवति समानमिति अनिर्वचनीयं च सकलमिति। तदिदमेव मिथ्यात्वज्ञानम्। एवं पुनरस्ति वा न वा कोऽपि नित्य इति जिज्ञासमानस्य कार्यत्वेन सकर्तृकं जगदित्यनुमानाद्वृद्धवचनाच्चं नित्यपरमेश्वरज्ञानमपि सम्पत्स्यत एव। न च वृद्धादिवचनश्रवणमपि श्रवणमेवेति कथं श्रवणाधिकारिकोटावस्य प्रवेश इति वाच्यम्। षड्भिर्लिङ्गैरद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यावधारणलक्षणस्य वक्ष्यमाणस्यात्राभावात्। एष च विवेको वैराग्यहेतुरित्याशयवानाह—इत्थमिति। विवेकस्यांशद्वयवत्त्वाद्वैराग्यस्यापि तत्त्वं युक्तमित्याशयेनाह—विरज्येति। विषयविरक्तिः परमात्मानुरक्तिरिति द्वयं वैराग्यरूपमिति

दृष्टं यथेदं क्षयि दुःखमिश्रं
सर्वं तथानुश्रविकं च सौख्यम् ।
तस्माद्वितृष्णा भगवन्तमीयु-
र्वशीकृतान्तःकरणा भवन्तम् ॥८॥

(इहामुत्रार्थ फल भोग विरागरूपी वैराग्य का स्वरूप कहते हैं) जिस प्रकार ऐहिक सुख क्षणिक तथा दुःखमिश्रित है वैसे ही वेदोक्त स्वर्गादिसुख भी क्षणिक तथा दुःख मिश्रित है । इस लिये इन दोनों सुखों से विरक्त होकर महापुरुष लोग अपने अन्तःकरण को वश कर के हे भगवन् ! आपकी शरण में आते हैं ।

नीत्वान्तराणि करणानि शमं प्रशान्ता
ज्ञानेन्द्रियाणि च दमं विषयव्यपेताः ।

भावः । यद्वा वैराग्यवतां स्वत एव परमात्मनि प्रीतिरुपजायत इत्यभिप्रायेणेदमुक्तम् ॥ ७ ॥

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।" "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इतिश्रुति दर्शितरीत्या प्रत्यक्षानुमानाभ्यां स्वयंश्रुतेश्च विवेकवतां तदुत्पद्यत इत्याशयेन वैराग्यं व्याकरोति—दृष्टमिति ॥ ८ ॥

नीत्वेति । शमो दम उपरतिस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानमिति शमादिषट्कसम्पत्तिः ! तत्र शमो नामान्तःकरणनिग्रहः । दमो ज्ञानेन्द्रियनिग्रहः ।

कर्मेन्द्रियाण्युपरमय्य तितिक्षवस्त्वां
श्रद्धाधना हृदि समादधते विधेयाः ॥ ६ ॥

शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा और समाधान शम्पदिषट्क सम्पत्ति कहलाती है। अन्तःकरण निग्रहरूपी शम एवं ज्ञानेन्द्रियनिग्रहरूपी दम से विषयस्पर्शरहित प्रशान्त विनयग्राही महापुरुष कर्मेन्द्रियों का उपराम, तितिक्षा एवं श्रद्धायुक्त होकर हे भगवन्! आप को अपने हृदय में समाहित करते हैं ॥ ६ ॥

अस्पृष्टदुःखं सुखमक्षयं य-
न्मोक्षं तमाहुः पुरुषार्थमग्र्यम्।

आद्येन मनसि विद्यमानविषयत्यागः, द्वितीयेन विषयान्तराऽप्रवेश इति शमदमवन्तो विषयव्यपेताः। उपरतिः कर्मेन्द्रियनिग्रहः। तितिक्षा संघातस्य स्थूलशरीरस्य वा निग्रहात्मिका द्वन्द्वसहिष्णुता। गुरुवेदान्तवाक्यविश्वासलक्षणायाः श्रद्धाया वैशिष्ट्यद्योतनाय घनरूपकोक्तिः। "श्रद्धत्स्व सोम्य" "श्रद्धावान् लभते ज्ञानमित्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम्। श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः" इति च मन्त्रवर्णाः। त्वां हृदि समादधत इति। चित्तैकाग्र्यलक्षणसमाधि प्रकृतं प्रति सुकरसाधनत्वादेवमुक्तिरिति ध्येयम्। विधेया इति विनयग्राहिण इत्यर्थः। वक्ष्यमाणगुरूपसदनबीजतयेदमुक्तम्। न विद्यते विधेयं कार्यं येषां तेऽविधेयास्त्यक्तकर्माण इति वा। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यतीत्याद्याः श्रुतयोऽत्र द्रष्टव्याः ॥ ६ ॥

त्वत्तो न चान्योऽस्ति स एष विष्णो
तस्मादभीप्सन्ति मुमुक्षवस्त्वाम्॥१०॥

जिसमें दुःख का स्पर्श भी न हो ऐसा सुख ही मोक्ष कहलाता है। वही परमपुरुषार्थ है। हे भगवन्! वह मोक्ष आप से अन्य नहीं है। यही कारण है कि मुमुक्षु आप को ही प्राप्त करना चाहते हैं॥ (मुमुक्षुत्व का इसमें निरूपण किया गया है)॥१०।

तं वन्देऽपरिचितयोगसाधनानां
दुर्दर्शं सकलगुहाहितं पुराणम्।
यं मत्वा सपदि जहाति हर्षशोकौ
संपन्नप्रसृमरसाधनो हि धीरः॥११॥

उस सर्व बुद्धिगुहास्थ पुराणपुरुषोत्तम की हम वन्दना करते हैं जो साधनारहित पुरुषोंके लिये दुर्दर्श है जिसका

चतुर्थं साधनं मुमुक्षुत्वं व्याख्याति—अस्पृष्टेति। दुःखात्यन्तनिवृत्तिः परमसुखप्राप्तिश्च मोक्ष इत्युच्यते। पुरुषार्थमग्र्यमिति। तत्र हेतुः—अक्षयमिति। न स पुनरावर्त्तत इत्यादिश्रुतेः। कथं तर्हि मुमुक्षूणां कृते भगवत्प्राप्तिरुपदिश्यते शास्त्रेष्वित्युच्यते—त्वत्त इति। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा सा च भगवत्प्राप्तीच्छैवेति भावः॥१०॥

साधनान्युपसंहरन् परमेश्वरं प्रणमति—तमिति। दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनां तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टमित्यादिकं संगृह्णाति—अपरीति॥११॥

इति अधिकारिनिरूपणम्

श्रवण मनन कर साधनसम्पन्न धीरपुरुष हर्षशोकरहित होते हैं ॥११॥

बन्धो ह्यविद्याऽस्य च लोकबन्धो
निवृत्तिरात्मा भगवंस्त्वदात्मा ।
ज्ञानोपलक्ष्यः स मुमुक्षुलक्ष्या-
न्न त्वत्पृथङ् मोहनिवृत्तिरूपः ॥१२॥

समस्त लोक के बन्धु हे भगवन् ! बन्ध ही अविद्या है। ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा ही बन्धनिवृत्ति है जो कि आपका ही स्वरूप है। मोहनिवृत्तिरूप वह आत्मा मुमुक्षुओं के लक्ष्य आप से भिन्न नहीं हो सकता ॥१२॥

सामान्यतोऽधिकारिनिरूपणं कृतम्। अथ श्रवणादिकं निरूपणीयमिति तत्र संगतिं सूचयितुमयमुपक्रमः। तथा हि नन्वरपृष्टदुःखं सुखमक्षयं न मोक्षशब्दार्थः। मुच्लृधातोर्निष्पन्नस्य मोक्षशब्दस्य बन्धनिवृत्त्यर्थकत्वादित्याशङ्कायां नैवं बन्धनिवृत्तेरुक्तसुखरूपत्वान्न दोषः। न च बन्धनिवृत्तेरधिकरणभूतात्मरूपत्वेऽपि न सुखरूपत्वम्। आत्मनः सुखरूपत्वेन तत्त्वोक्तौ इदानीमपि सुखप्रत्ययापत्तिरिति वाच्यम्। बन्धस्याऽविद्यारूपतया तेन समाच्छादनेनाधुना सुखाऽप्रत्ययादित्याशयेन बन्धादिरूपं निरूपयति—बन्ध इति। सर्वनाम्ना अविद्यापरामर्शे अस्या इति रूपं स्यात्। पुंलिङ्गनिर्देशस्तु बन्धस्य निवृत्तिर्मोक्ष इति मुख्यार्थावबोधनाय। अविद्यानिवृत्तिरात्मैव। स च भूमात्मकस्त्वमेवेति सुखरूपत्वं मोक्षस्येत्याशयेनाह—त्वदात्मेति। त्वद्रूप इत्यर्थः। ननु बन्धनिवृत्त्यधिकरणं जीवात्मैवेति कथं तस्य परमात्मरूपत्वं वास्तविकाभेदस्याधुनापि विद्यमानतयाऽकिंचित्कर-

अध्यात्मजं चाप्यधिभूतजं च ।
तापं समन्तादधिदेवजं च
आघ्नन्तमेकान्ततयाऽपहन्तुं
मुमुक्षवस्त्वां समशिश्रियन्त ॥१३॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन तापों को जो सब ओर से आघात करते हैं, सर्वथा नष्ट करने के लिए हे भगवन् मुमुक्षुओं ने आपका आश्रयण किया। (अस्पृष्टदुःखं इस पूर्वोक्त दुःख का यहाँ प्रकार वर्णन है) ॥ १३ ॥

त्वादित्यत आह--ज्ञानोपलक्ष्य इति। ज्ञानोपलक्षित आत्मा अविद्यारूपबन्धनिवृत्तिरित्यन्वयः। ज्ञातत्त्वोपलक्षित आत्मा च सर्वदृश्यनिवृत्तावेवेति वदानीं परिच्छेदकाभावात्तस्य भगवद्रूपत्वं युक्तमेवेति भावः। तदिदमाह—स[illegible]हनिवृत्तिरूप आत्मा मुमुक्षुलक्ष्यात्त्वत्तः पृथङ् नेति ॥१२॥

ननु अविद्यानिवृत्तिरूपमोक्षेच्छात्मकमुमुक्षैव न घटते सुखस्यैव सर्वैः काम्यमानत्वादिति व्यर्थं श्रवणादिकमित्यत आह—अध्यात्मजमिति। तापशब्दितं दुःखं त्रिविधमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च मानसं शरीरं चाधिव्याधिसंज्ञितमाध्यात्मिकं सिंहव्याघ्रमशकादिनिमित्तमाधिभौतिकं दैवप्रकोपजमाधिदैविकम्। तदिदं दुःखत्रयं समन्तादाहन्ति पुरुषमिति तन्निवृत्तिः सर्वाभिलाषविषयः। न च ततोऽतिरिक्ताऽविद्यानिवृत्तिः। अविद्यानिवृत्तिमन्तरा एकान्ततया तन्निवृत्त्ययोगाच्चेति अविद्यानिवृत्तिरूपं भवन्तं मुमुक्षवः समशिश्रियन्तेत्यर्थः॥

जगद् दुःखागारं त्वयि सकलमारोपितमिदं
भवत्साक्षात्कारादपनुदति धाराभुजगवत् ।
अतस्त्वां विज्ञातुं प्रथयति मुमुक्षूनधिकृतान्
विजिज्ञासस्वेति श्रुतिभगवती सूत्रकृदपि ।१४।

हे भगवन् ! यह दुःखागार संसार आप में ही आरोपित है आपके साक्षात्कार से मिथ्यासर्प के समान यह नष्ट होता है। इसीलिए उस ब्रह्म की जिज्ञासा करो इस प्रकार भगवती श्रुति तथा सूत्रकार भगवान् वेदव्यास आपका साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए कहते हैं ।।१४।।

उत्पत्तिराप्तिर्विकृतिश्च संस्कृति-
श्चतुष्टयं न त्वयि कर्मकार्यम् ।

ननु सकलदुःखनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्तिलक्षणमोक्षस्य सर्वाभिलाषविषयत्वेऽपि तदर्थं श्रवणादिकं व्यर्थं श्रवणादीनां ज्ञानमात्रप्रयोजकत्वात् । न हि ज्ञानं दुःखनिवर्त्तकमानन्दप्रापकं वा । न ह्यश्वज्ञानेन गावो विनश्यन्त्यश्वा वा प्राप्यन्ते । न च बन्धो ह्यविद्येत्युक्तत्वान्नेयं शङ्केति वाच्यम् । तस्याविद्यात्मकत्वे मानाभावात् इत्याशङ्कायां मैवं दुःखात्मकप्रपञ्चस्य परमात्मनि कल्पितत्वं श्रुत्यादिसिद्धमिति ज्ञानेनारोपितनिवृत्तिरधिष्ठानप्राप्तिश्च घटत इत्याशयेनाह—जगदिति । समारोपितमिति । अत्र तद् ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्वेत्यादिश्रुतिम् अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रं चानर्थनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्त्युपायकथनपरं प्रमाणयति—अतस्त्वामिति ।। १४ ।।

न कर्मशेषोऽसि ततः पुमर्थं
त्वामाहुरानन्दमकर्मगम्यम् ॥१५॥

उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार ये चार कर्म के कार्य हैं। इन चारों में एक भी आप में नहीं हैं। अतः पुरुषार्थरूप आत्मा कर्मगम्य नहीं है॥१५॥

नैवोत्पाद्यः स्वर्गवन्नो विकार्यः
सोमादीवानित्यतायाः प्रसङ्गात्।
नो संस्कार्यो व्रीहिवन्नित्यशुद्धो
नाप्यश्चात्मत्वाद् भवान् मोक्षलक्ष्मा ।१६।

स्वर्ग के समान आप उत्पाद्य नहीं हैं सोम आदि के समान विकार्य नहीं हैं व्रीहि के समान संस्कार्य नहीं हैं और आत्मा होने ही से प्राप्य भो नहीं हैं। (ज्ञान से ही मोक्ष होता है यह यहाँ बताया गया है)॥१६॥

सत्यं निवर्तेत घटादिवस्तु
दण्डप्रहारादिककर्मणैव।

ननूदाहृतश्रुतिसूत्रादिकं प्राप्तब्रह्मज्ञानस्य कर्मादिपरम्परयात्मप्राप्त्यनर्थनिवृत्तिप्रतिपादनतात्पर्यकं किं न स्यादित्यत आह—उत्पत्तिरिति ॥ १५॥

नैवेति। गृहस्वर्गादीनां कर्मणोत्पत्तिः। धनमन्त्रादीनां प्राप्तिः। दधिसोमादीनां विकृतिः। पात्रव्रीह्यादीनां संस्कृतिः। न चैषन्यतममप्यात्मनि मोक्षरूपे नित्यत्वादात्मत्वादविकारित्वाच्छुद्धत्वाच्चेत्यर्थः॥ १६॥

मिथ्या निवर्त्त्योऽहिभुजङ्गमादि-
ज्ञानादितीयं नियतिस्तवैव ॥ १७॥

सत्य घटादि वस्तु की निवृत्ति दण्डप्रहारादि कर्म से होती है मिथ्या रज्जु सर्पादि की निवृत्ति ज्ञान से होती है। यह नियम हे भगवन्! आप का ही बनाया हुआ है ॥ १७ ॥

[1]ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
वेदः सोऽयं तावकज्ञानबाध्यम्।
सर्वं दृश्यं बोधयंस्त्वन्नियत्या
मिथ्यैवेति स्पष्टमाचष्ट विश्वम् ।१८।

परमेश्वर को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त होता है यह वेदवाक्य हे परमेश्वर! आप के ज्ञान से बाध्य बताते हुए आप के ही पूर्वोक्त नियम से समस्त दृश्य प्रपञ्च को स्पष्ट रूप से मिथ्या बताता है ॥ १८ ॥

परमात्मप्राप्तिर्न कर्मसाध्येत्युक्त्वा संसारनिवृत्तिरपि न कर्मसाध्ये-त्याह—सत्यमिति। आपेक्षिकं सत्यत्वमिह विवक्षितम् ॥१७॥

ज्ञात्वेत्यादि। ज्ञात्वा मुच्यत इति प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य ज्ञानमोक्ष-योरवगमादन्तरा कारणान्तरकल्पने मानाभावाच्च ज्ञाननिवर्त्त्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वं स्पष्टमेव पाशशब्दितदृश्यजातस्य सिद्ध्यतीति भावः ।।१८॥

---

१ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः इति प्रथमलिखितपाठः।

अनर्थजालप्रभवो भवोऽयं
भवत्प्रबोधैकनिवर्त्तनीयः।
इति स्म शृण्वन्ति गिरः श्रुतीनां
मुमुक्षवः कर्म विहाय पूर्वे ॥१६॥

हे परमेश्वर! यह संसार अनर्थजाल का मूल कारण है। आप के साक्षात्कार से ही इस की निवृत्ति संभव है। यही कारण है कि पुरातन मुमुक्षुवर्ग कर्म त्याग कर वेदान्तवाक्य श्रवण करते थे॥ १६ ॥

वन्दे तमौपनिषदं पुरुषं महान्त-
मत्येति मृत्युमपि यं हि नरो विदित्वा।

इत्थं च संसारनिवृत्तिबीजबोधसाधनत्वात्सार्थकं श्रवणमित्याह—अनर्थेति। अत्र शिष्टाचारं तन्मूलभूतां स्मृतिं वा दार्ढ्याय प्रमाणयति—इति स्मेति। संन्यस्य श्रवणं कुर्यादिति स्मृतिदर्शनात् ॥ १९ ॥

उक्तमर्थं मन्त्रवर्णेन समर्थयति—वन्द इति। ननु श्रवणादिकं विनैव भक्तिसमाध्यादिभिः परमात्मा ज्ञायतामित्यत आह—औपनिषदमिति। यं हि यमेव। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति मन्त्रः। आत्मकृपा गुरुकृपा, शास्त्रकृपा भगवत्कृपेति चतसृणामत्र प्रयोजकत्वमाह—स्वगुर्विति ॥ २० ॥

॥ इति श्रवणादिसार्थक्यसमर्थनम् ॥

नान्योऽस्ति कश्चन जगत्ययनाय पन्था
 विन्दन्ति यं स्वगुरुशास्त्रभवत्कृपाभिः ॥२०॥

उस उपनिषत् मात्र वेद्य महान् पुरुष परमात्मा की हम बन्दना करते हैं जिसको जानने से ही मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है। इसके सिवाय मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। उस ज्ञान की प्राप्ति ईश्वरकृपा शास्त्रकृपा, गुरुकृपा एवं आत्मकृपा से ही होती है ॥२०॥

वेदान्तवाचां परमद्वितीये
 त्वयीश तात्पर्यमशेषशेषे।
आचार्यवान् वेद निशम्य सम्यङ्
 मीमांसमानः श्रवणं तदेतत् ॥२१॥

वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय सर्वशेष ब्रह्म में ही परम तात्पर्य है। यह तथ्य आचार्यमुख से विधिवत् श्रवण कर मीमांसा करने से ही अवगत होता है इसी को श्रवण कहते हैं ॥ २१ ॥

एवं श्रवणादीनां सार्थक्यं समर्थ्य तल्लक्षणस्वरूपादिकमाह— वेदान्तेति। वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि परमं तात्पर्यमित्येतदवधारणं श्रवणम्। नन्वेवमितरप्रतिपादनं कुतस्तत्रेत्यत आह अशेषशेष इति। दृश्यमाने द्वैते सहसाऽद्वैतबोधासंभवात्तेषां बाधपुरःसरं शेषत्वेन ब्रह्म वेदान्तेषु प्रतिपाद्यत इति भावः। तत्र च श्रवणे गुरुमुखाद्वेदान्ताऽऽकर्णनं मीमांसा चेत्युभय-

परिपक्वमलान् विरागिणः
स्वयमुत्सादनशक्तिपाततः ।
ननु योजयते भवान् हरे
परतत्त्वे गुरुमूर्त्तिसंस्थितः ॥२२॥

हे हरे ! पक्वकषाय विरागी महापुरुषों को आप स्वयं ही गुरुमूर्त्ति में स्थित होकर उत्सादनशक्तिपात से परतत्व में योजित करते हैं ॥ २२ ॥

उपक्रमेणाप्युपसंहृतेना-
प्यभ्यासतोऽपूर्वतया फलेन ।

ज्ञमित्याशयेनाह—आचार्यवानिति । आचार्यवान् पुरुषो वेदेति श्रुतिः ॥ २१ ॥

"परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन । योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्त्तिस्थः" इति स्मृतिमर्थतः पठन् प्रसङ्गोपात्तगुरुमुखश्रवण-सूचितगुरूपसत्तिं समर्थयति—परीति ॥ २२ ॥

मीमांसोपयोगिषड्लिङ्गमाह—उपक्रमेणेति । प्रतिपाद्यवस्तुन आद्यन्तयोरुपादानमुपक्रमोपसंहारात्मकमेकं लिङ्गम् । प्रतिपाद्यवस्तुनः पुनः पुनः कथनमभ्यासः । प्रतिपाद्यवस्तुनो मानान्तरागोचरत्वमपूर्वता । प्रतिपादितवस्तुनः सप्रयोजनत्वं फलम् । प्रतिपाद्यार्थसमर्थकं स्तुतिनिन्दावचनमर्थवादः । प्रतिपाद्यार्थसाधकस्तर्को वा युक्तिर्वा दृष्टान्तो वाऽन्योपपत्तिरिति विवेकः ॥२३॥

त्वामर्थवादैरुपपत्तिभिश्च
तात्पर्यतो वेदगिरो गिरन्ति ॥२३॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति ये छः लिङ्ग तात्पर्यनिर्णायक माने जाते हैं। इन से वेदवाणी परमेश्वर का ही प्रतिपादन करने में तात्पर्य रखती है यह सिद्ध होता है ॥२३॥

ईशावास्यमितिश्रुतौ हि समुपक्रान्तस्त्वमेव प्रभो
त्वामाख्याति स पर्यगादिति ततः स्पष्टोपसंहारगीः
अभ्यासोयमनेजदेकमिति ते भूयोनुसंकीर्त्तनाद्
देवा नैनदवाप्नुवन्निति हरे व्याख्याति तेऽपूर्वताम्

हे भगवन् ! ईशावास्योपनिषद् में ईश्वर से समस्त पदार्थ आच्छादन योग्य हैं इस प्रकार आप का उपक्रमण एवं वह सर्वव्यापक है शुक्र है अकाय है इत्यादि रीति उपसंहार किया है। वह चलन रहित है वह चलता नहीं है इत्यादि पुनः पुनः कथनरूपी अभ्यास वहाँ देखा जाता है। देवता (इन्द्रिय) उसे नहीं पा सके इस प्रकार अपूर्वता भी बतायी गयी है ॥२४॥

तदेव निदर्शयति—ईशेत्यादि। स पर्यगादिति। अन्धं तम इत्यादिकं प्रकरणान्तरमेव। तेनाग्ने नयेत्यादेरेवोपसंहाररूपत्वमिति न भ्रमितव्यमिति भावः। एतमेव विशेषं दर्शयितुं संक्षिप्तेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे

एकत्वं ह्यनुपश्यतः फलमिदं मोहश्च शोकश्च कः
स्वात्मघ्नां यदसुर्यलोकगमनं निन्दार्थवादः स तु।
कुर्वन्नेववचः स्तुतिस्त्वनुमतेर्यन्मातरिश्वात्मभू-
स्तस्मिन्नेव दधात्यपो वच इदं प्राहोपपत्तिं त्वयि।

"आत्मैकत्व को जो देखता उसको शोक और मोह क्या" कहते हुए शोक मोह निवृत्ति फल बताया है। आत्मघाती असुर्य लोक को प्राप्त होते हैं कह कर अज्ञानियों की निन्दा की है यह अर्थवाद है। कर्म करते हुए रहें यह ज्ञानियों को कर्मानुमति देकर स्तुति की है वह भी अर्थवाद है। परमेश्वर की सत्ता में ही रहकर आदि पुरुष हिरण्यगर्भ कर्मफल विभाग करते हैं यह परमेश्वर के अस्तित्व में तर्कात्मक उपपत्ति है ॥ २५ ॥

ईशावास्योपनिषल्लिङ्गकथनं कृतम्। अनयैव दिशोपनिषदन्तरेष्वपि काचित्कः प्रकरणविच्छेदो द्रष्टव्यः। अनेजदेकं तदेजति तन्नैजतीत्यादावभ्यासः। नैनद्देवा आप्नुवन्नितीन्द्रियाद्यगम्यत्वसूचनेनापूर्वत्वकथनम् ॥२४॥

एकत्वमिति। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति आत्मैकत्वदर्शनफलं शोकमोहनिवृत्तिः। स्वात्मघ्नामिति। असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जना इत्यात्मघातिनामसुर्यलोकगमनोक्तिर्निन्दार्थवादः। ईशावास्यमिति शान्त्युपक्रमात्तस्य कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा इति कर्मानुमतिः स्तुतिः। ज्ञानी किल कुर्वन्नपि न लिप्यत इति। अत्रैव सूत्रकारसंमतिं सूचयति—

छन्दोगास्तु सदेव सोम्य समुपक्रम्यैतदात्म्यं जग-
त्सर्वं हीत्युपसंहरन्ति विशदं त्वामेव सद्रूपिणम्।
प्रोचुस्तत्त्वमसीत्यखण्डमसकृत्त्वामीश्वराभ्यासतो
व्याचख्युस्त्वदपूर्वतां च भगवन्नेषोऽणिमेत्यादितः

छान्दोग्य में पहले सत् परमात्मा ही था इस प्रकार उपक्रम कर परमात्मरूप ही यह सारा जगत् है ऐसा उपसंहार किया है। नौ बार तत्त्वमसि का अभ्यास कर अखण्ड चैतन्य बताया है। वह सत् अत्यन्त सूक्ष्म है कहते हुए अपूर्वता भी दिखाई है ॥२६॥

त्वत्सम्पत्तिरुदीरिता फलमथो सम्पत्स्य इत्युक्तितः
प्रोचे येन किलाश्रुतं श्रुतमिति श्रुत्यार्थवादोऽपि च

स्तुति.स्त्वनुमतेर्वेति। स्तुतयेऽनुमतिर्वेति सूत्रम्। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीत्युपपत्तिः ॥ २५ ॥

छान्दोग्ये षड्लिङ्गं दर्शयति—छन्दोगा इति। सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति सतः परमात्मन उपक्रमः। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यामित्यादि परमात्मन उपसंहारः। तत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासः। एषोऽणिमेति सूक्ष्मत्वोक्तिरपूर्वतापर्यवसायिनी ॥२६ ॥

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्य इति सत्सम्पत्तिलक्षणमोक्षफलकथनम्। उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्यर्थवादः। अर्थवादः क्वचिदुपक्रमात् पूर्वमपि भवति

मृत्पिण्डेन समस्तमृन्मयपरिज्ञानं यथैकेन ही-
त्यूचेऽस्मिन्नुपपत्तिरेवमखिलश्रुत्यन्तषड्लिङ्गदिक्

सत्सम्पत्ति (परमात्मैकीभाव) फल बताया है। जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है इत्यादि अर्थवाद है। एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से समस्त मृन्मयपदार्थ का ज्ञान होता है यह उपपत्ति है। यह वेदान्त में षड्लिङ्ग का दिग्दर्शन-मात्र है। २७॥

षड्भिश्च लिङ्गैरवधार्य वाच-
स्त्वय्येव तात्पर्यमपौरुषेय्याः।

एवं क्वचित्फलकथनादिकमपि। अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना इत्येवं काठके उपक्रमतः प्रागेव तद्दर्शनात्। अत एवोपक्रमो नाम न प्रथमोच्चारण-मेवेति ध्येयम्। न च येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादि सर्वज्ञत्वात्मकफलकथन-मेवेति वाच्यम्। दृष्टान्तानुसारेण सर्वत्र मृत्तत्त्वदर्शनवत्सत्तत्त्वदर्शनमात्रस्य विवक्षिततया प्रसिद्धसर्वज्ञत्वस्यात्राऽग्रहणात्। सर्वज्ञत्वस्य सुखदुःखाभावा-न्यतरत्वाभावात्सत्सम्पत्तेः स्वफलस्योक्तत्वाच्च। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादित्यादि दृष्टान्तकथनरूपोपपत्तिः। एवं छान्दोग्य एवाध्यायान्तरेषु केनकाठकादिषु च षड्लिङ्गमुन्नेयम्। विस्तरस्तु वेदान्त-मन्दारतरावन्यत्र च द्रष्टव्य इत्याशयेनाह—दिगिति ॥ २७ ॥

षड्भिश्चेत्यादि। श्रवणस्य प्रमाणगताऽसंभावनानिवर्तकत्वमपि फलम्। तन्मात्रं तु न फलम्। अतिश्रद्धालोः श्रवणानर्थक्यप्रसङ्गात्। परार्थासंभावनां=परमात्मप्रतिपादकं नवेत्यसंभावनाम् ॥ २८ ॥

॥ इति श्रवणनिरूपणम् ॥

प्रमाणगामात्मपराः परार्था-
संभावनां स्वामवधीरयन्ति ॥२८॥

हे भगवन्! पूर्वोक्त छः लिंगों से अपौरुषेयी वेदवाणी का आप परब्रह्म में ही तात्पर्य निश्चय कर महापुरुष लोग प्रमाणगत परमात्मप्रतिपादकत्व के संशय को दूर करते हैं ॥२८॥

नानाविधाभिरुपपत्तिभिरम्बुजाक्ष
त्वामेव देवमखिलश्रुतिभारसारम्।
मत्वा प्रमेयविषयामखिलां तथैवा-
संभावनां विगमयन्ति निरन्तरायाः ॥२९

हे कमलनयन! नानाविध युक्तियों से समस्त श्रुतियों का सार आप को मनन द्वारा समझ कर निर्विघ्न ही प्रमेयगत संशय को महापुरुष मिटाते हैं (यह मनन वर्णन है) ॥२९॥

आधारमाह जगतोऽस्य भवन्तमेव

मननं व्याकुरुते—नानेति। प्रमेयगताऽसंभनाया ब्रह्मैकं वा नेकं वा सद्वयं वाद्वयं वा साकारं निराकारं वेत्याद्याया निवर्त्तकत्वमप्यस्य फलमाह—मत्वेति। ज्ञानदार्ढ्यं दीर्घकालानुवृत्तिकाद्वैतवासनादिकं च मननफलम्। ब्रह्मस्मरणाविनाभाविनो मननस्यान्तरायशमनहेतुत्वमप्याह—निरन्तराया इति। इदं श्रवणनिदिध्यासनयोरपि समानम्॥ २९॥

श्रौतं वचो विनिषिषेध च नेति नेति ।
मिथ्या ततो जगदिदं त्वयि दृश्यमानं
मन्यामहेऽज जडमंशि परिच्छिदावत् ॥३०

श्रुतिवचन आप (ब्रह्म) को ही जगत् का आधार बतला कर फिर उसीका निषेध किया । इससे दृश्य, जड, अंशी और परिच्छिन्न इस जगत् को हम मिथ्या ही मानते हैं ॥ ३० ॥

ज्ञानान्निवर्त्यमखिलं जगदेव विश्व-
मायानिवृत्तिरिति यच्छ्रुतिगीरवोचत् ।

मननप्रकारमेव दर्शयन् परमेश्वरस्याद्वितीयत्वं साधयितुं प्रथमं जगन्मिथ्यात्वमुपपादयति—आधारमिति । बृहदारण्यके स्थलचतुष्टयेऽपि सकलप्रतिष्ठारूपं ब्रह्मोक्त्वा तत्रैव सर्वं निषिद्धमिति स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणं मिथ्यात्वं जगतः कण्ठोक्तमित्यर्थः । तच्चानुमानतः पुनर्दृढीकरणीयमित्याशयेन हेतूनुपन्यस्यति—दृश्यमानमित्यादि । विमतं मिथ्या दृश्यत्वाद् जडत्वादंशित्वात्परिच्छिन्नत्वाच्छुक्तिरूप्यवदिति । यत्तु कश्चिन्न्यायभाष्यटीकाकृदत्रानेकहेतूपन्यासादधिकनामनिग्रहस्थानमिति । तन्मननस्वरूपानभिज्ञतानिबन्धनम् । प्रत्येकहेतुभिः पृथगेवात्र सिषाधयिषया साध्यसाधनात् ॥ ३० ॥

ज्ञाननिवर्त्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वं जगत आह—ज्ञानादिति । भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुतिं ज्ञाननिवर्त्यत्वे प्रमाणमुक्त्वानुमानमप्याह—तदिति । विमतं ज्ञाननिवर्त्यं स्वप्नजाग्रतोः परस्परमर्थबाधाच्छुक्तिरङ्गरजत

तच्छुक्तिरूप्यवदसत्यमिदं प्रबाध्यं
बाधावधिस्त्वमधितिष्ठसि सर्वमेतत् ॥३१॥

यह समस्त विश्व ज्ञाननिवर्त्त्य है। श्रुति विश्वमायानिवृत्तिः कहती हुई यही बतलाती है। इसलिये बाधयोग्य यह जगत् शुक्तिरूप्य के समान मिथ्या है। बाधावधि आप सबके अधिष्ठाता हैं ॥३१॥

वारिदेषु रथकुञ्जरादिकं
कल्पकैः किल विकल्प्यते यथा।
तद्वदेव भगवंस्त्वयीश्वरे
दृष्टितो व्यरचि सृष्टिरीक्षकैः ॥३२॥

जिस प्रकार कल्पना करने वाले बादलों में रथ हाथी आदि आकार की विविध कल्पना करते हैं वैसे हे भगवन्! आप में दर्शक अपनी दृष्टि से सृष्टि रचना करते हैं ॥३२॥

दूरगेषु विरलेष्वणुष्वयं

वदित्यर्थः। फलितमद्वितीयं ब्रह्माह—बाधावधिरिति। स न बाध्य इति भावः ॥३१॥

जगदिदं नासीदस्ति भविष्यतीति प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वलक्षणमुपगच्छतां दृष्टिसृष्टिमतमाह— वारिदेष्विति। न हि रथकुञ्जरादिकं वारिदेषु त्रिकालेऽप्यस्ति ॥३२॥

सान्द्रयुक्तिरुपकल्प्यते घटः ।
अद्भुतासु तव शक्तिषु प्रभो
तेऽणवोऽपि च दृशा प्रकल्पिताः ॥२३॥

परस्पर दूर स्थित विरल अणुओं में ही सांद्र संयोग घटादि की कल्पना होती है । और वे अणु भी आप की अद्भुत शक्तियों में कल्पित हैं । २३॥ .

सान्द्ररूपमुपलभ्यतेऽखिलै-
र्दूरतो विरलपादपं वनम् ।

नन्वेवं पृष्ठादर्शनकाले पृष्ठविरहान्नरां म्रियेत पृष्ठविरहात्तदवलम्ब्युदरमपि न स्यादित्याद्या शङ्कामर्वाचीनदार्शनिकसिद्धान्तेन परास्यति—दूरगेष्विति । दूरगेषु परस्परं दूरस्थितेषु । घनाणून् परितस्त्वरितं भ्राम्यत्सु ऋणाणुषु विरलेषु सान्द्रसंयोगकठिनत्वादिविभ्रमाद् घटादिबुद्धिरित्यर्वाचीनवैज्ञानिकमतम् । तेऽप्यणवो विरलातिसूक्ष्माणवन्तरसमुदाय इति रीत्याऽन्ते गतिमात्रं शक्तिलक्षणं काठिन्यादिरहितमवशिष्यत इति तैरेवानुमित शास्त्रेण योजयति—अद्भुतास्विति । ननु कल्पका जीवाः कल्पनाप्रयोक्त्री माया च कथं दृष्टिसृष्ट्या कल्पित इति चेन्न । जीवेशमायादीनामनादित्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥२३॥

ननु कस्य दृष्ट्येयं सृष्टिः ? न च काचिदत्र विनिगमना । प्रतिजीवं सृष्टिभेदे त्वया दृष्टो घटो मया दृश्यत इति न स्यात् । किं च कश्चिद्रज्जौ सर्पमपरो मालामितरो भूमिभेदमितिवत् कश्चिद् घटं घटत्वेनेतरः पटत्वेनेतरो हस्तित्वेन कल्पयेत् । न चैवं भवति । तस्मात्सर्वसामान्यात्सत्या सृष्टिरित्यत आह—सान्द्रेति । संस्थानविशेषेण तिष्ठत्स्वणुषु घटरूपेणैव

तेन नाखिलसमानता जगत्-
सत्यतां गमयितुं त्वयि क्षमा ॥३४॥

वृक्ष दूर दूर होते हैं फिर भी दूर से देखनेवालों को जंगल सघन दीखता है। इसलिये सभी समान रूप से देखते हैं इतने मात्र से जगत् की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥३४।

प्राहुस्तप्त्वा यत्तपस्तैत्तिरीया–
श्छन्दोगाद्याश्चेक्षणाद्भूतसर्गम् ।
तन्मात्रान्ते तेन हि त्वां समष्टि
निर्मातारं दृष्टितो वष्टि वेदः ॥३५॥

तैत्तिरीय में ज्ञानरूपी तप से और छान्दोग्यादि में ईक्षण से भूत सृष्टि बतायी है। फलतः वेद तन्मात्रापर्यन्त सृष्टि ईश्वरदृष्टि से कही है ॥३५॥

सर्वस्य सृष्टिर्यथा दूरगविरलवृक्षवनं सर्वैरेव सान्द्रमेवोपलभ्यते परस्परं प्रत्यभिज्ञायते च। न च दूरदर्शिकाचविशेषेण विरलवृक्षत्वं शक्यदर्शन-मिति वाच्यम्। सूक्ष्मदर्शिकाचविशेषेण घटादीनामपि दूरविरलाणुसंचय-मात्ररूपेण लौकिकैर्दर्शनस्य समानत्वात् मायाशक्तीनामपि संस्थानविशे-षादणुविशेषदर्शनमिति सर्वं समञ्जसम् ॥३४॥

उक्तां दृष्टिसृष्टिं वेदवाक्यैः प्रमाणयति–प्राहुरित्यादि। यद् यस्मात्। तप इति। यस्य ज्ञानमयं तप इति श्रुत्यन्तराज्ज्ञानात्मकमेव तप इति द्रष्टव्यम्।

अव्याकृते तावकवीक्षणोत्थे
जीवात्मनो व्याकृतदृष्टिसृष्टिः ।
जीवात्मना व्याकरवाणि नाम–
रूपे इति प्राह यतः श्रुतिर्हि ॥३६॥

हे भगवन् ! अव्याकृत आकाशादि आपके वीक्षण से उत्पन्न हुए । उनमें व्याकृत जगत् को जीवात्मा ने अपनी दृष्टि से बनाया । क्योंकि मैं जीवात्मा के रूप में नामरूप का व्याकरण करूँ इस प्रकार आपके बारे में श्रुति ही कहती है ॥३६॥

तैत्तिरीया इति । "स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च" इत्यादिकं वाक्यमत्र द्रष्टव्यम् । "तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायत" इत्यादिकं श्रुत्यन्तरवचनमप्यनेनोपलक्षणीयम् । छन्दोगाद्याश्चेक्षणादिति । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत" "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इती" त्यादिकं वचनजातमिहोदाहर्त्तव्यम् ॥ तन्मात्रान्ता इति । श्रुतौ स्पष्टत्वादिति भावः । तेन त्वां समष्टिचेतनं दृष्टितो निर्मातारं दृष्टया सृष्टिकर्त्तारं वेदो वष्टि । तथा चेश्वरीयदृष्टिसृष्टौ न कोपि विवादशेषः । परदृष्टिसृष्टस्य परेण दर्शनं न स्यादतः समष्टिमित्युक्तम् ॥ ३५ ॥

अव्याकृत इति । आकाशादितन्मात्रालक्षणेऽव्याकृते सद्रूपपरमात्मेक्षणसृष्टे पुनर्व्याकृतनामरूपतया जगतो जैवदृष्टिसृष्टिरेव । अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति श्रुतेरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति शक्तेः संस्थानविशेषेणावस्थानात्मिका दृष्टिरीश्वरीया । तत्र च वारिदेषु संस्थानविशेषेणावस्थितेषु रथकुञ्जरादिवज्जगतः सृष्टिर्जीवदृष्टयैवेति ॥३६॥

स्वाप्नं रथादिं हि सृजन्तमेव
निराह कर्त्तारमपौरुषी वाक् ।
स्फुलिङ्गदृष्टान्तमुदाहरन्ती
व्याचष्ट जैवीमपि दृष्टिसृष्टिम् ॥३७॥

स्वप्नदृष्ट रथादि की सृष्टि करनेवाले को ही श्रुति कर्त्ता कहती है। (अतः कर्तृत्व कल्पितवस्तूत्पादकत्व ही सिद्ध होता है) तथा चिनगारी के समान आत्मा से प्राण लोकादि उत्पन्न होते हैं कहकर श्रुति जगत् की जीवदृष्टि सृष्टि भी स्पष्ट बतलाती है ॥ ३७॥

ननु दृष्टिसृष्टिरिति शब्द एव न घटते। दृष्ट्या कल्पनैव भवति न तु सृष्टिः। उच्यते च वेदेषु सृष्टिः। अत ईश्वरादिकर्तृका सृष्टिः सत्यैवेत्यत आह--स्वाप्नमिति। स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता इति बृहदारण्यके (४।३।६।१०) कल्पयितुरेव विहननसर्जनकर्तृत्वं हिकारेणावधारितमित्यर्थः। स्फुलिङ्गेति बृहदारण्यके एव द्वितीयप्रथमे अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेदेति सुषुप्तिं प्रकृत्य व्युत्थानकाले "स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत् सत्यस्य

व्यावर्त्तमानान्यनुवर्त्तमानाद्
भिन्नानि सूत्रान्मणयो यथैव ।
भूरस्ति पाथोऽस्त्यनुवर्त्तमानात्
सतस्त्वदीशान्यदसद्धि विश्वम् ॥३८॥

व्यावर्त्तमान मणि अनुवर्त्तमान सूत्र से अलग देखा गया है । तब पृथिवी है जल है इत्यादि रीति अनुवर्त्तमान 'अस्ति' 'है' से पृथिवी आदि पृथक्-असत् हो होगी ॥३८॥

सदस्त्युपादानमतो न भिन्नं
सतो जगच्चेद्भवतः परात्मन् ।
मृदः पृथङ्नैव घटस्य सत्ता

सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति स्पष्टमेव स्वप्नसुषुप्तिप्रकरण-सिद्धजीवात्मत एव प्राणलोकदेवभूतानां सृष्टिमुदाहरन्ती दृष्टिसृष्टावेव श्रुतिः पर्यवस्यतीत्यर्थः । तत्रैव सत्यस्य सत्यमिति प्रथमसत्यशब्दितं सत्यत्वं राजराज इत्यादौ प्रथमोपात्तराजपदार्थराजत्ववदापेक्षिकमेव भवितुमर्हतीति क्वाचित्कं जगत्सत्यताबोधकपदान्तरमपि तथैव व्याख्यातव्यमिति ॥३७॥

सदसद्भिन्नत्वलक्षणं सद्भिन्नत्वलक्षणं च मिथ्यात्वं साधयति—व्याव-र्त्तमानानीति । घटः सन् पट सन्नित्येवमनुवर्त्तमानात् सतो भिन्नस्य व्यावर्त्तमानस्य घटादेरसत्त्वं दुर्वारमेव ॥ ३८ ॥

व्यावर्त्यतावच्छेदकरूपेण पृथिव्यादीनां सतो भिन्नत्वेऽपि "तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्य इति न्यायेन कारणरूपेणानन्यत्वमेव जगतः सत्स-काशादिति वदन्तं प्रत्याह—सदिति । "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा"

त्वत्तः पृथक् सा जगतः कथं स्यात् ।३६।

हे भगवन् यदि यह कहें कि सत् उपादान कारण होने से जगत् सत् से भिन्न नहीं है अत एव असत् नहीं है, ठीक है, परन्तु मृत्तिका से पृथक् जैसे घट की कोई सत्ता नहीं है वैसे सद्रूप परमात्मा से अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं यह बात ज्यों की त्यों रही ॥३६॥

त्वय्यर्कसोमभगणानलविद्युदाद्या
नो भान्ति नित्यनिरवद्यनिजप्रकाशे ।
त्वामेव भान्तमनुभाति जडः प्रपञ्चो
भासा तवैव च विभाति समस्तमेतत् ।४०।

हे परमेश्वर ! नित्य निर्दोष स्वयं प्रकाश आप को सूर्य चन्द्र नक्षत्रगण अग्नि एवं बिजली आदि क्षुद्र प्रकाश प्रकाशित नहीं कर सकते। हाँ, आपके भासित होने पर

इत्यादिश्रुतेः सदुपादानमस्त्यतो न पृथिव्यादिकं सतो भिन्नं येनासत् स्यादिति पूर्वपक्षार्थः । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः कारणरूपेण सत्यत्वमुररीकुर्म एव विकारस्तु नामरूपादिकं मृद्भिन्नत्वेन घट इव मिथ्यैवेति स एव घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त आपततीति समाधानार्थः ॥३६॥

परमात्मनः सद्रूपत्वं मननेन दृढीकृत्याधुना चिद्रूपत्वं श्रुतिसिद्धं दृढीकरोति—त्वयीति । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो

यह सारा जड प्रपञ्च प्रकाशित होता है आप के प्रकाश से ही यह सारा जगत् विभासित होता है ॥४०॥

प्रकाशमानः स्वयमेव पूषा
प्रकाशयेत्सर्वमिदं प्रकाश्यम् ।
विभासमानः स्वयमेव च त्वं
विभासयेर्विश्वमिदं विभास्यम् ।४१।

स्वयं प्रकाशमान हो कर ही सूर्यादि जगत् को प्रकाशित करते हैं । वैसे ही हे भगवन् ! आप भी स्वयं प्रकाशमान होकर ही दृश्य जगत् को प्रकाशित करते हैं ॥४१॥

नाल्पे सुखं कुत्रचनानवद्यं
भूम्न्येव सौख्यं भवितुं क्षमेत ।
भूमा त्वमेवासि रमापते त्वा-

भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुत्यर्थोऽत्र संगृहीतः ॥ ४० ॥

प्रकाशमान इति । परमात्मनः स्वयंप्रकाशत्वलक्षणचिद्रूपत्वानङ्गीकारे तस्यापि प्रकाशान्तरमित्यनवस्था प्रसज्यते । अन्यस्य कस्यचित्स्वयंप्रकाशस्यानभ्युपगमे जगदन्धं च प्रसज्यते । इतरदीपकादिनिरपेक्ष एव स्वयंप्रकाशमानः सूर्यादिरपरान् प्रकाशयतीति दृष्टान्तोपपत्तेश्च सिद्धं स्वयंप्रकाशत्वमात्मनोऽप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वलक्षणमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथानन्दरूपत्वं परमात्मनो मननेन दृढीकरोति—नाल्प इति ।

मानन्दरूपं तत एव विद्मः ॥ ४२ ॥

परिच्छिन्न वस्तु में कहीं भी निर्दोष सुख नहीं होता। भूमा में ही सुख संभव है। हे भगवन्! आप भूमा है अतः आनन्दरूप हैं ॥ ४२ ॥

अन्तर्मुखी भवति काचन चित्तवृत्तिः
पुण्योद्भवा विषयसङ्गनिबन्धना या।
आनन्दलक्षणभवत्प्रतिबिम्बमस्यां
सम्पद्यते तमिममेव वदन्ति भोगम् ॥४३॥

विषयसङ्ग होने पर पुण्य प्रयुक्त कोई अन्तर्मुखी चित्त वृत्ति होती है। उस में हे परमेश्वर! आनन्दरूपी आपका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही भोग कहलाता है ॥४३।

नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखमित्याद्याः श्रुतयः। क्षणिकं दुःखमिश्रं सुखं शब्दादिविषयेभ्यः संभावयन्तं प्रत्याह— अनवद्यमिति ॥ ४२ ॥

वस्तुतो विषयेषु नास्त्येव सुखमित्याह— अन्तर्मुखीति। चञ्चलतरजलादौ सूर्यादिस्फुटप्रतिबिम्बादर्शनादस्थिरेऽपि चित्ते नानन्दप्रतिबिम्बग्रहणम्। विषयसंयोगादिनेषच्चित्तस्थैर्ये तत्र चानन्दप्रतिबिम्बग्रहात्सुखानुभूतिरिति बहवः। तन्न। सप्रहाससार्थवाहसहितपरमान्नभक्षणादौ चित्तस्थैर्यादर्शनादीषच्चित्तस्थैर्यस्य कण्टकवेधजनितमहावेदनासमयेऽपि दर्शनाच्च। क्षणिकस्थैर्यस्य सर्वदैव विद्यमानत्वाच्च। उक्तं च योगभाष्यविवरणे गच्छतोऽपि प्रतिक्षणं क्षणिकस्थितिवदस्ति क्षिप्तचित्तादावपि क्षणिकस्थितिरिति। तस्माद्वृत्तिविशेष एव पुण्यसमुद्भव आनन्दप्रतिबिम्बग्राहीत्याशयेनाह—काचन

केचिद्वदन्ति विषयेषु सुखं मदान्धाः
किन्तु प्रभो त्वयि वयं सुखमभ्युपेमः।
नो चेत् कथं किल सुषुप्तिसमाधिमध्ये
तद्युज्यतां विषयसङ्गकलाविहीने ॥४४॥

हे प्रभो! कुछ लोग विषयों में ही सुख कहते हैं, किन्तु हम आप में ही सुख मानेंगे। यदि ऐसा न हो तो विषय सङ्ग लेश रहित सुषुप्ति एवं समाधि में सुखानुभव कैसे होता? ॥ ४४ ॥

निष्पिष्टनिम्बगुटिकासदृशः स्वाभावात्

चित्तवृत्तिरिति। अत्र चित्तपदं विषयभोगव्याख्यानुरोधेनोक्तम्। सुषुप्तौ चित्तविलयेन वृत्तिमात्रस्य वक्तव्यत्वात्। उत्थितस्य सुखस्मरणानुरोधेन चित्तरूपेण परिणंस्यमानाविद्यांशवृत्तेरेव सुषुप्तावप्युपगन्तव्यत्वाद्वा। अग्रे तु वृत्तिमात्रं वक्ष्यति। तस्याप्यत्रैव तात्पर्यम् ॥ ४३ ॥

विषयेषु सुखमिति दुराग्रहं प्रतिक्षिपति—केचिदिति। स्वप्नेऽपि किल विषयविरहेऽपि विषयाकारवृत्तिमात्रेण शब्दादिविषयसुखानुभवः सर्वानुभवसिद्धः। तदानीं प्रातिभासिकविषयोपगमेऽपि सुषुप्त्यादौ सोऽपि नास्ति। अथ च सुखमहमस्वाप्समित्यादि प्रबुद्धस्य स्मरणं भवति। तच्चात्मनः सुखरूपत्व एव घटते। "यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये" इत्येवमनुभववतां वचनात् समाधौ परमात्मसुखस्यैवानुभवः ततश्च सुषुप्तावपि परमात्मसुखमेव लाघवादुचितमिति हृदयम् ॥ ४४ ॥

ननु भोगादिलक्षणं सुखं यद्यानन्दपरमात्मप्रतिबिम्बात्मकमुपेयते तर्हि दुःखं कस्य प्रतिबिम्बमिति वक्तव्यम्। यदि च रजोवृत्तिविशेष एव दुःख-

सर्वोऽपि दुःखकटुको विषयप्रपञ्चः।
माध्वीकबिन्दुकणिकाभिरिव।भिलिप्त-
स्त्वत्सङ्गिवृत्तिभिरयं मधुरो विभाति।४५।

नीम को पीसी गोली के समान स्वभाव से ही सारा जगत कडुआ है। शहद के कणों से लिप्त होने पर जैसे नीम की गोली बाहर से मीठी लगती है वैसे भगवत्प्रतिबिम्बग्राही वृत्तियों से लिप्त होने पर यह संसार भी मधुर सा लगने लगता है ॥ ४५ ॥

जन्म स्वयं स्वीयमवेक्षतां को
न वा परेषां विषयोऽयमात्मा।

मित्युच्यते तर्हि सत्त्वगुणवृत्तिविशेष एव सुखमित्यपि युक्तं वदितुमित्येवं प्रत्यवतिष्ठमानं सांख्यं प्रत्याचष्टे—निष्पिष्टेति। स्वभावत एव संसारो दुःखरूप इति दुःखं कस्य प्रतिबिम्बमिति प्रश्न एव नोदेति। अत एव श्रुतौ आनन्दमयकोशवद् दुःखमयः कोशः षष्ठो नोपदिष्टः। पूर्वकृतनित्यनैमित्तिकादिकर्मजनितादृष्टविशेषेणेषदानन्दप्रतिबिम्बग्राहिवृत्तिविशेषोदयात्तदावृतत्वान्न सततमयं संसारो दुःखरूपो विभाति। पुण्यविशेषजनितस्पष्टानन्दप्रतिबिम्बग्राहिवृत्त्युदये स्फुटानन्दानुभवो भवति। तदुभयविरहे चाकृतनित्यनैमित्तिककाम्यादिकर्मणां दुःखमय एव सततं प्रपञ्चः, पापैः पुनरतिदुःखरूपश्चेति ॥ ४५ ॥

एवं परमात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वं मत्वाऽऽत्मनोऽपि तत्त्वं तत्त्वंपदार्थशोधनौपयिकतया मनुते—जन्मेति। स्वयमसन् स्वजन्म कथं वीक्षताम्। न च मातापितृभ्यां वीक्षणसंभवः। ताभ्यां शरीरजन्ममात्रस्य कथंचिद्दर्शा-

सुप्तौ स्वयं भाति सुखस्वरूपः
सच्चित्सुखात्मायमतस्त्वमात्मा ४६।

स्वयं अपने जन्म को कौन देख सकता है। दूसरों का तो आत्मा विषय ही नहीं है। निद्रा में यह स्वयं भासता है आनन्दरूप भी रहता है। अतः सच्चिदानन्दरूप यह आत्मा हे भगवन्! आप का ही स्वरूप है ॥ ४६ ॥

हृत्वा विजातीयमनःप्रवृत्तिं
वृत्तिप्रवाहेण निरन्तरेण।
सन्तो निदिध्यासनलक्षणेन
त्वामेव विष्णुं परिशोधयन्ति ॥४७॥

विजातीय वृत्तियों को हटाकर सजातीय निरन्तर वृत्ति प्रवाह करना ही निदिध्यासन कहलाता है। उस से हे परमेश्वर! सन्त लोग आप का ही खोज करते हैं।४७।

नात्। शरीरजन्ममरणाभ्यामात्मजन्ममरणानुमानमपि न संभवति। जीवागमनगमनाभ्यामपि तदुपपत्तेः कृतनाशादिप्रसङ्गाच्चेति श्रौतं सद्रूपत्वम्, अत्रायं स्वयंज्योतिर्भवतीत्यादिश्रुतेरनुभवाच्च चिद्रूपत्वं, सुषुप्तौ सुखानुभवादानन्दरूपत्वं च श्रौतं सिद्धम्। सुप्ताविति। स्वप्नसुषुप्त्योरित्यर्थः। लक्षणैक्यादात्मपरमात्मैक्यमाह—सच्चिदिति ॥ ४६ ॥

॥ इति मनननिरूपणम् ॥

इदानीं निदिध्यासनं निरूपयति—हृत्वेति। विजातीयवृत्तिपरिहारपुरःसरसजातीयवृत्तिप्रवाहो निवातदीपोपमो निदिध्यासनमुच्यते। जगदवलोकनका-

बाह्यार्थेष्वपयापितेषु विनिवृत्ताज्ञानवृत्तेर्यतेः
स्मृत्युन्नेयसवृत्तिकः स्फुरति यत्स्वात्मास्वयं स्वप्रभः
तद्ध्यानं कवयो वदन्ति तदिदं प्राहुर्निदिध्यासनं
येनैवेश भवन्तमन्तरहितं पश्यन्ति योगीश्वराः ॥

बाह्यविषयों को हटाकर अज्ञानवृत्ति के भी अभाव-काल में स्वयं प्रकाश आत्मा का जो स्वयं स्फुरण होता है, परन्तु बाद में स्वात्मस्मृति होने से आत्माकारवृत्ति जब निश्चित रहती है, उसी को क्रान्तदर्शी महापुरुष ध्यान कहते हैं उसी को निदिध्यासन भी कहते हैं जिससे अन्त रहित अनन्त परमेश्वर आप का दर्शन योगीश्वर करते हैं ॥ ४८ ॥

लेऽप्याधिष्ठानं ब्रह्म निभालयतां यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय इति न्यायेन भवति निदिध्यासनमित्याशयेन प्रवृत्तिभित्यत्र प्रोपसर्गः । परिशोधयन्तीति । इदं श्रवणमननयोरपि समानं वक्ष्यमाणतत्त्वंपदार्थैक्यबोधोपयोगित्वतौल्यात् ॥ ४७ ॥

ननु ब्रह्माकारवृत्तिरेव न घटते निराकारत्वाद् दूराद्वृत्तिप्रवाह इति कथं निदिध्यासनमुपपद्यत इत्यत आह—बाह्यार्थेष्विति । अपयापितेषु अपनीतेषु । परित्यक्तबाह्यार्थचिन्तनस्येत्यर्थः । नन्वेतत् सुषुप्तावेव सुगममित्यत आह—विनिवृत्ताज्ञानवृत्तेरिति । सुषुप्तौ नाहं किंचिदवेदिषमित्यज्ञानवृत्तिसत्त्वात्तद्वारणम् । स्वात्मा स्वप्रभत्वेन स्वयं यत्स्फुरति तद्ध्यानमिति योजना । नन्वेवं स्वयं प्रकाशत्वेनैव आत्मस्फुरणान्न काचन तदानीं वृत्तिः सिद्धयति । न चेष्टापत्तिः । अखण्डाकारवृत्तेः सर्वैरप्यगमादि-

श्रुत्या च मत्या च निरस्तसंशयाः
सम्यङ्निदिध्यासनशुद्धवासनाः ।
विशीर्य सर्वां विपरीतभावनां
त्वय्येव विश्रान्तिमनुश्रयन्ते ॥४६॥

हे परमेश्वर! श्रवण और मनन से असंभावना को तथा निदिध्यासन से समस्त विपरीत भावना को नष्ट कर अद्वैतवासना वासित पुरुष आप परमात्मा में ही विश्रान्ति प्राप्त करते हैं ॥ ४६ ॥

त्यत आह—स्मृत्युन्नेयसद्वृत्तिक इति। निदिध्यासनाद् व्युत्थितो नैव नाहमासमिति प्रत्येति। किन्त्वहमासमेवेति स्मरति। न हि स्मरणमनुभवात्मकवृत्तिमन्तरा संभवतीति भावः। कवयो वदन्तीति। इदमात्मदर्शनमेव विषयान्तरापसारणमात्रं निदिध्यासनमित्येके। परे तु प्रतिबन्धकविशेषवशान्न स्पष्टदर्शनात्मकमिदम्। श्रुत्यादिप्रसिद्धपरमानन्दानुभूतेरिति मतभेदप्रदर्शनाय वदन्तीत्युक्तम्। अन्तरहितमिति। परिच्छिन्नमनोवृत्तिव्याप्यता नान्यविषयाऽपरिच्छिन्ने घटत इत्येतद्ध्वनयितुमिदं विशेषणम्। इदं च चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगादभिन्नमित्याशयेनाह—योगीश्वरा इति। पूर्वश्लोकोक्तः सहजसमाधिरित्युच्यते अयं च ध्यानसमाधिरित्यभिधीयत इत्येतद्दर्शयितुं ध्यानं निदिध्यासनमित्युक्तम् ॥४८

श्रवणमननयोरसंभावनाख्यसंशयापनायकत्ववन्निदिध्यासनस्य विपरीतभावनापनायकत्वमपि फलमाह—श्रुत्येति। शुद्धवासनाः परिवासिताद्वैतवासनाः। सर्वाम् अयमहं ममायमित्येवं लक्षणाम् ॥४६॥

॥ इति निदिध्यासननिरूपणम् ॥

तत्त्वंपदार्थौ परिशोध्य सूरिभिः
परात्मनोस्तत्त्वमसीति वाक्यतः ।
भागं विहायैक्यमलोक्यत प्रभो
यत् स त्वमेवायमखण्डचेतनः ।५०।

तत्पदार्थ तथा त्वं पदार्थ का शोधन कर तत्त्वमसि महावाक्य से विरुद्धांश को छोड़ कर जीवात्मा और परमात्मा की एकता को जो विद्वानों ने देखा, हे प्रभो ! वह अखण्ड चेतन आप ही हैं ॥५०॥

सत्कर्मनिर्मलहृदः सदुपासनास्त-
विक्षिप्तयः सकलसाधनसम्पदाढ्याः ।
पश्यन्ति यं मतिसमाधियुजा श्रुतेन
तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ।५१।

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य(स्वामी काशिकानन्द)विरचिते वेदान्त-सिद्धान्तकुसुमाञ्जलौ प्रथमः स्तबकः ॥



सत्कर्मों के द्वारा मल को और सम्यगुपासना से

विशिष्टं श्रवणात्मकमन्तरङ्गतमं साधनमाह—तत्त्वमिति । भागं=सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिविरुद्धभागम् । अलोक्यत=अखण्डाकारवृत्त्या विषयीक्रियते स्म ।५०॥

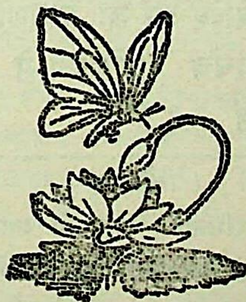
विक्षेप को हटाकर विवेक वैराग्यादि सकल साधनों से सम्पन्न पुरुष मनन तथा निदिध्यासन सहित श्रवण से जिसका साक्षात्कार करते हैं उस पुरुषोत्तम भगवान् को मेरा यह प्रणाम है ॥५१॥

(प्रथम स्तवक का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ)

प्रकरणार्थं संक्षिप्याह—सत्कर्मेति । स्पष्टम् ॥५१॥

इति प्रथमस्तवकसौरभम् ॥





श्री जयमङ्गलाचार्य (स्वामीकाशिकानन्द) विरचितो

वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलौ

द्वितीयः स्तबकः

प्रत्यक्षतोऽप्यनुमितेरुपमानतोऽर्था-
पत्त्या च शब्दवशतोऽनुपलब्धितश्च ।
पश्यन्ति निर्मलहृदः प्रतिबोधबोध्यं
त्वामीश्वर स्फुरणया विषयात्मना च ॥१॥

हे परमेश्वर ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन छः प्रमाणों से प्रतिबोधविदित आप का निर्मलचित्त स्फुरणरूप से तथा विषयरूप से अवलोकन करते हैं ।। १ ॥

सौरभम्

अन्तरङ्गबहिरङ्गभेदभिन्नानि साधनानि व्याख्यातानि । एतैः साधनैः साध्यं प्रमेयज्ञानं प्रमाणाधीनमिति प्रमाणनिरूपणं प्राप्तम् । न च प्रमाणमेव प्रमेयज्ञानसाधनं न तु प्रमाणज्ञानमिति प्रमाणनिरूपणमनर्थकमिति वाच्यम् । उपादेयप्रमाणोपादानार्थमप्रामाण्यनिराकरणार्थं च प्रमाणज्ञानस्याप्यपेक्षितत्वात् । स्फुरणविधया प्रमाणेषु ब्रह्मनिरूपणार्थं तन्निरूपणावश्यकत्वाच्च । न च तदर्थं ज्ञानमात्रं निरूपणीयमिति वाच्यम् । विशेषप्रतिपत्त्य-

जाते गवां स्वविषयैः सह संनिकर्षे
वस्त्वाकृतिर्भवति वस्तुनि चित्तवृत्तिः ।

भावात् । न चैवमप्रमाणनिरूपणमपि युक्तमिति वाच्यम् । यतो निरूपयिष्यते ह्यप्रमाणमपि । मुख्यत्वाच्च प्रथमं प्रमाणमेव निरूप्यत इति । एतेन श्रवणस्यैव ब्रह्मबोधहेतुतायाः पूर्वमुक्ततया शब्दप्रमाणमात्रं निरूपयितुमुचितमित्यपि समाहितम् । निरुपाधिकब्रह्मणः शब्दमात्रबोध्यत्वेऽपि तदौपयिकसोपधिकब्रह्मज्ञानस्यानुमानादिभिरपि संभवाच्च । इत्थं च प्रतिबोधविदितमिति श्रुतिरपि सुसंगता भवति । प्रतिबोधं सोपाधिकब्रह्मण एव विदितत्वेऽपि तत्रैवोपाधिपरित्यागेन निरुपाधिकब्रह्मबोधसमुद्भवादिति । तथा चेदं प्रमाणनिरूपणमारभते—प्रत्यक्षत इत्यादि । शब्दवशत इति वशशब्दप्रयोगः-शब्दस्य मुख्यत्वद्योतनाय । पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलवत्त्वाच्छब्दोत्तरमर्थापत्तिर्द्रष्टव्या । अनुमानवदर्थापत्तेरपि सार्वलौकिकत्वं सूचयितुं पूर्वं पठिता । अनुपलब्धेरमुख्यत्वादन्ते पाठः । ननु प्रतिबोधबोध्यत्वे सर्वे ब्रह्म ज्ञातवन्त एवेत्यत आह–निर्मलहृद इति । प्रतिबोधबोध्यत्वं स्फुटयति स्फुरणयेत्यादि । स्फुरणरूपेण सर्वत्र बुध्यते । विषयात्मना तु जगत्कर्तृपूर्वं कार्यत्वादित्यदो ॥१॥

प्रत्यक्षं व्याचष्टे–जात इति । गवामिन्द्रियाणां विषयैः सह संनिकर्षे जाते सति वस्त्वाकृतिर्विषयाकारा चित्तवृत्तिर्भवति । तत्र परोक्षे हृदय एव वृत्तिर्भवतीति ततो वैलक्षण्यं—वस्तुनीति । विषयावच्छेदेनेत्यर्थः । विषयच्छायैव गृह्यत इति वार्त्तिकमतेऽपि अक्षिगतविषयच्छायावच्छेदेन वृत्तिर्भवति । परोक्षे विषयच्छायाऽभावान्न तथेति न काप्यनुपपत्तिः । तस्यां विषयाकारवृत्तौ प्रतिबिम्बभावं समयन् प्राप्नुवन्नचेतनघटादिवस्तुजातं त्वमेवालं पर्याप्तं प्रत्यक्षयसि । उक्तं च "आभासेन घटः स्फुरेदिति ।" यत्तु वृत्त्यविच्छिन्नविषयावच्छिन्नचैतन्ययोरैक्यं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रमिति । तन्न । विशिष्टयोर्भेदात् । उपहितैक्योक्तावपि चैतन्यगतैक्यं व्यधिकरणतया न विष-

तस्यां त्वमेव समयन् प्रतिबिम्बभावं
प्रत्यक्षयस्यलमचेतनवस्तु जातम् ॥२॥

हे भगवन्! इन्द्रीयों का अपने अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर वस्तु देश में वस्त्वाकार चित्तवृत्ति होती है। अर्थात् इन्द्रीयों के द्वारा चित्त घटादि देश में जाकर घटाद्याकार होता है। उस चित्त वृत्ति में आप का (चैतन्य का) प्रतिबिम्ब पड़ता है। वही वस्तु को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भग्नं विधायावरणं घनान्धं
स्वयंप्रभं त्वामवभासयन्ती।

यादिप्रत्यक्षतार्थां तन्त्रम्।[1] वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभिन्नचैतन्यावच्छेदकत्वदेः तन्त्रत्वोक्तौ लाघवाद् वृत्त्युपहितचैतन्यावच्छेदकत्वादिकमेवास्ताम्। किं चानुमितिविषयधर्मादेः प्रत्यक्षत्ववारणायानावृतचिदवच्छेदकत्वादिमात्र मुच्यताम्! तथा सति तदेव प्राचां मतमिति नात्र किंचिद्वक्तव्यं तन्मतस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २ ॥

भग्नमिति। घनान्धम् अभानापादकम्। तस्य सामान्यप्रकाशेन परोक्षज्ञानेनानपसरणाद्घनान्धत्वम्। भग्नं विधाय त्वामवभासयन्ती। घटं भित्वा नाशयतीत्यादौ घटभेदनाऽभिन्ननाशार्थंतावदत्रापि आवरणभङ्गात्मकमेवावभासनम्। अन्यादृशावभासनायोगात्, यतः—स्वयंप्रभम्। न हि

---

१. प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो विषयगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजक इति वेदान्तपरिभाषाकृतः। तत्र तादृशसत्तावच्छेदकत्वसत्तादात्म्यादिस्तत्प्रयोजकतयाफलितश्चित्तादात्म्यादेरेव प्रयोजकत्वौचित्यान्नात्रोपात्त इति ध्येयम्।

प्रत्यक्त्ववृत्तिर्विषयोपधानं
त्वामेव भूमन् विषयीकरोति ॥ ३ ॥

हे भूमन् ! अतिघन आवरण को भंग कर स्वयंप्रकाश आप को प्रकाशित करनेवाली प्रत्यक्त्ववृत्ति विषयोपहित आप चैतन्य को ही विषय करती है (जड़ को नहीं) ॥३॥

स्वयंप्रभमन्येनावभास्यते । तथा च वायुर्मेघमपनीय सूर्यं प्रकाशयतीतिवदत्रापीति भावः । प्रत्यक्त्ववृत्तिरिति । तथा चाभानापादकावरणभञ्जकत्वमेव ज्ञाने प्रत्यक्त्वमिति भावः । अत्र च मतद्वयं बोध्यम् । यथा मेघो न बृहन्तं सूर्यमच्छादयति किन्तु तत्प्रत्ययप्रतिबन्धमात्रं करोति एवमभानापादकमावरणं नाम भानप्रतिबन्धं कुर्वत् शक्तिविशेषमात्रम् । तदुक्तं हस्तामलकाचार्यैः-घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः । तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेरिति । एवं च सूर्याविषयकमेव मेघं सूर्याविषयक एव वायुरपनयति तद्वदेव चैतन्याविषयकमप्यावरणं चैतन्याविषयिकयैव वृत्त्याऽपसार्यत इति । अपरं मतं तु आवरणविषयत्वमस्ति चैतन्यस्येति । उक्तं च संक्षेपशारीरके—आश्रयत्वविषयत्वभागिनी.. चितिरित्यादि । तथा च वृत्तेरपि समानविषयत्वमुपगन्तव्यम् । तद्विषयकावरणस्य तद्विषयकवृत्तिनाश्यत्वात् । सर्वथापि आवरणकार्यस्य चैतन्ये एव संभवाद् वृत्तिकार्यमपि तत्रैव युज्यते । न हि जडे घटादावावरणकार्यं जडत्वादेव । चैतन्यस्यावरणात्तदवच्छेदकं घटादिकमप्यावृतमित्युच्यते चैतन्यस्य वृत्त्याऽभिव्यञ्जनात्तदवच्छेदकं घटादिकमप्यभिव्यज्यत इत्युच्यते । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—विषयोपधानं त्वामेवेति । उपाधिपरित्यागे भूमैवासावित्याशयेन संबोधयति भूमन्निति ॥३॥

ननु तस्यां त्वमेव समयन् प्रतिबिम्बभावमिति पूर्वं प्रतिबिम्बचैतन्यमुक्तम् । भग्नं विधायेत्यादिना च बिम्बचैतन्यमुपहितचैतन्यात्मकम् । न

जानाम्यहं घटमितीह घटोपधानं
चैतन्यमेव भगवन् स्फुरति त्वदीयम् ।
सैव ह्यनावृतचितिः प्रतिबिम्बवृत्तिः
सद्यो घटं समवभासयते चिदात्मन् ।४।

मैं घट को जानता हूँ यहाँ घटोपहित चैतन्य ही स्फुरित होता है और हे भगवन् ! उसी अनावृतचित् के प्रतिबिम्ब से घट भी स्फुरित होता है ॥४॥

वृत्तौ भवप्रभव ते प्रतिबिम्बमस्यां
न स्यात्तदा विदिततास्तु कथं घटादेः ।
वृत्तिर्जडा वसनवज्जनयेत्कथं ता-
माभासजा विदिततेति ततोऽभ्युपेमः ।५।

च चैतन्यद्वयं केनचिदप्यनुभूयत इत्यत आह—जानमीति अयमर्थः घटमहं जानामीति शाधात्वभिलप्यं स्फुरणं घटावच्छिन्नचैतन्यमेव, घटपदोत्तरद्वितीयाविभक्त्यभिलप्यं फलात्मकं स्फुरणं तु वृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यमेव । घटज्ञानेन घटः स्फुरतीति सर्वानुभवात् ॥४॥

प्रतिबिम्बस्वीकारे युक्तिमाह—वृत्ताविति । नीरूपचैतन्यस्य कथं प्रतिबिम्बमिति शङ्कमानं प्रत्याह—भवप्रभवेति । सर्वोऽपि संसारो नीरूपात्ततो भवतीति प्रतिबिम्बोद्भवे कस्तव खेद इति भावः । युक्त्यन्तरमन्यत्र द्रष्टव्यम् । ननु वृत्त्यैव विदितताऽस्त्वित्यत आह—वृत्तिरिति । जडेति । विदितत्वं हि स्फुरणात्मकमिति वैलक्षण्यमिति भावः । वसनवद्=वस्त्रवत् । ताम्=वि-

हे जगदीश्वर ! यदि आप का प्रतिबिम्ब वृत्ति में न हो तो घटादि में विदितता किस प्रकार होती । जड वृत्ति तो वस्त्र के समान उसे कैसे उत्पन्न कर सकती है । अतः आभास से ही विदितता होती है यही हम मानते हैं ।।५।।

ये चाप्यनावृतचितो विषयो घटादि-
स्तादात्म्यतः स्फुरति न प्रतिबिम्बभावात् ।
तादात्म्यमेव विषयत्वमिति ब्रुवन्ति
तेषां घटस्फुरणमप्यसि मापते त्वम् ।।६।।

जो लोग अनावृतचित्तादात्म्य से ही घटादि का स्फुरण होता है प्रतिबिम्ब भाव से नहीं, चित्तादात्म्य ही विषयता है ऐसा मानते हैं उनके मत में हे भगवन् ! घटस्फुरण भी आप ही हैं ।।६।।

त्वं ज्ञाततां भासयसे चिदात्म-

दितताम् । आभासजा=आभासप्रयुक्ता । विदितता=स्फुरणसम्बन्धः । न च बिम्बचैतन्येनोपपत्तिः । तस्याजन्यत्वेन फलरूपत्वाभावात्, क्रिया-जन्यफलाश्रयो हि कर्म ।। ५ ।।

ये चेति । आवरणभङ्गाद्युत्पत्त्या चैतन्यादौ भाक्त उत्पत्त्यादि-व्यवहारः । किं चानुमितो घट इत्यादौ स्वाकारवृत्त्यवभासकसाक्षितादात्म्य-मेव विदितत्वं वक्तव्यम् । तच्च प्रत्यक्षेऽपि सुवचम् । विषयदेशावच्छिन्नत्व-तदभावादिभिर्वृत्तावेव वैलक्षण्यं न विदिततायाम् ।।६।।

ज्ञातताभासतादात्म्यादिरूपाम् । अज्ञाततामज्ञानविषयतामज्ञाना-

अज्ञाततां चापि तथानुभूतेः ।
अतो हि ताभ्यां किल साक्षिभास्यं
घटादिकं वेदविदो वदन्ति ॥७॥

हे ज्ञानमूर्त्ते ! अनुभवानुरोध से आप ही ज्ञातता तथा अज्ञातता को भासित करते हैं । इसी कारण वेद-वेत्ता ज्ञातत्वेन और अज्ञातत्वेन समस्त घटादि पदार्थ को साक्षिभास्य मानते हैं ॥७॥

सत्त्वोत्कर्षाद्दर्पणाभा हि बुद्धि-
र्वस्तुच्छायां बिभ्रतीयं चिकेत्ति ।
भूमंस्त्वच्छायानुभावात् स्फुरन्ती
तत्सम्बद्धैरिन्द्रियैः संगृहीताम् ॥८॥

सत्त्वगुण के उत्कर्ष से दर्पण के समान निर्मल बुद्धि, हे परमात्मन् ! आप की च्छाया से स्फुरित होती हुई अपने

वृतचित्तादात्म्यं वा । तथानुभूतेरिति ज्ञातो घटोऽज्ञातो घट इत्यनुभूतेः ताभ्यां ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन वा ॥७॥

"बुद्धिः सत्त्वगुणोत्कर्षान्निर्मलो दर्पणो यथा । गृह्णाति विषयच्छायामात्मच्छायानुभावतः । अन्तःकरणसम्बन्धान्निखिलानीन्द्रियाण्यपी"ति वार्तिककारमतमाधुनिकयन्त्रविज्ञानसमर्थितं परमसिद्धान्तं प्रत्यक्षविषयमाहसत्त्वोत्कर्षादिति । वस्त्विति समासान्तर्गतं पृथग् वा पदम् । पृथक् पक्षे छायामित्यर्थाद्वस्तुच्छायां बिभ्रती बुद्धिर्वस्तु चिकेत्ति प्रकाशयतीति योजना ॥८॥

से सम्बद्ध इन्द्रियों से गृहीत वस्तुच्छाया को ग्रहण कर प्रकाशित करती है ॥ ८ ॥

यो नर्त्तकादिमिव चित्रपटप्रदीपोऽ-
हंकारबुद्धिविषयाह्वयदृश्यजातम् ।
देवः प्रकाशयति तद्विरहेऽपि भाति
साक्षादहं तमपरोक्षमनुस्मरामि ॥६॥

सेनेमा के प्रदीप के समान या नाटकदीप के समान नर्त्तकादि सदृश अहंकार बुद्धि एवं विषयरूपी दृश्यवर्ग को जो प्रकाशित करता है और इन सबके अभाव में भी स्वयं भासित होता है उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का मैं अनुचिन्तन करता हूँ ॥ ६ ॥

व्याप्तिप्रबोधादुपजायमाना
या पक्षधर्मत्वसहायभाजः ।

प्रत्यक्षमुपसंहरन् भगवन्तं स्तौति—य इति । तद्विरहेऽपि भातीति । एनेन तस्यैव चैतन्यरूपत्वमिति विवेकोऽपि प्रदर्शित: । साक्षादिति । यस्मात्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति श्रुतेर्ब्रह्मैवापरोक्षं साक्षाद् अनावृतचित्तादात्म्यपरम्परया तु घटादिकमिति भाव: ॥९॥

॥ इति प्रत्यक्षनिरूपणम् ॥

अनुमानं निरूपयति—व्याप्तीति । कमलिनीसौरभविशेषमाघ्रायास्ति कुत्रापि कमलिनीकुसुममित्यनुमा भवति । पक्षधर्मत्वज्ञानं तु पक्षविशेषानुमितिप्रयोजकमिति सहायकमात्रम् । एतेन व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षधर्मत्वा-

वृत्तिर्विभो हृद्यनुमाभिधाना
तस्यां त्वमेव स्फुरणात्मकोऽसि ।१०।

पक्षधर्मताज्ञान की सहायता से व्याप्तिज्ञान के द्वारा जो वृत्ति हृदय में अनुमान नाम की उत्पन्न होती है उसमें आप ही स्फुरणस्वरूप हैं ॥१०॥

धूमाश्रये वह्निरवश्यमेषा
व्याप्तिर्निरुक्ता नियमस्वरूपा ।
तस्यां नियन्ता भगवंस्त्वमेव
व्याप्तिस्ततः शक्तिरखण्डधर्मः ॥११॥

धूम के आश्रयस्थान में वह्नि अवश्य होती है यह व्याप्ति नियमस्वरूप है। उस नियम में हे भगवन् ! आप ही नियन्ता हैं। अतः व्याप्ति आप की ही एक शक्ति है अखण्ड धर्म है ॥११॥

वगाहिज्ञानलक्षणपरामर्शः कारणमिति पक्षो निरस्तः। हृदीति। अत्र विषयदेशावच्छेदेन वृत्त्युत्पत्तिनियमो नास्तीति भावः ॥१०॥

धूमेत्यादि। यादृशपरम्परासम्बन्धेन नासिकाविवरागतसौरभस्य कमलकुसुमस्य च सामानाधिकरण्यं तदनुसन्धानविरहवतोऽपि पूर्वमाघ्रातकमलकुसुमदलस्य सौरभे कमलपूर्वकत्वनियमज्ञानमात्रेणानुमितिदर्शनात्तार्किकादिपरिकल्पितविविधव्याप्तिस्वरूपादिज्ञानमनुपयुक्तमनुमायाम्। नियमस्तु विलक्षणा काचन नियन्तृशक्तिरिति शक्तिवादिनां नास्माकं काचनानुपपत्तिः ॥११॥

हेत्वाश्रयस्थविरहाप्रतियोगिसाध्य-
सम्बन्धसाध्यरहितस्थितिशून्यताद्याः ।
व्याप्तिस्वरूपकलनाः क्वचनोक्तरूपां
श्रीमंस्त्वदीयनियतिं परिचाययन्ति ॥१२॥

हे भगवन् ! हेतु के आश्रय में स्थित अभाव के अप्रतियोगि साध्य का सामानाधिकरण्य, साध्याभाववान् में अवृत्ति हेतु इत्यादि व्याप्ति लक्षण आप की शक्तिरूपी नियति के परिचायक मात्र हैं ॥१२॥

ननु धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिवह्निसम्बन्धिधूमवान् वह्न्यभाववदवृत्तिधूमवानित्यादिज्ञानादप्यनुमितिदर्शनान्न शक्तिरूपव्याप्तिज्ञानादनुमितिरिति वक्तुं शक्यत इत्यत आह—हेत्वाश्रयेति । द्रव्यत्वादिधर्मेण कालिकादिसम्बन्धेन च धूमाधिकरणह्रदादौ वह्न्यभावमादायाऽव्याप्तिवारणाय येन सम्बन्धेन येन च धर्मेण हेतुत्वं तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणत्वं हेत्वाश्रयत्वं विवक्षणीयम् । धूमाश्रये पर्वतादौ शिखराद्यवच्छेदेन समवायादिसम्बन्धेन च वह्न्यभावं तत्तद्व्यक्त्यभावं चादाय दोषवारणाय प्रतियोगिव्यधिकरणीभूताभावीयसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं वाच्यम् । यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणं यथोक्तहेत्वधिकरणं तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकेति साध्यतावच्छेदकान्तनिष्कर्षः । कालिकसम्बन्धेन साध्यस्थले महाकालत्वहेतावव्याप्तिवारणाय तादृशप्रतियोगितायां यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति परमार्थः । अत्र सर्वत्रावच्छेदकत्वादौ पर्याप्तिर्निवेश्या । अन्यथा धूमजलान्यतराश्रयं कालिकसंयोगान्यतर-

द्वैतप्रपञ्चो हि मृषा जडत्वाद्
यथा स्फुरद्रज्जुभुजङ्गभोगः ।

सम्बन्धेन धूमाश्रयं च ह्रदादिकमादायाव्याप्त्यादिदोषप्रसङ्गात् । तथा च हेतुतावच्छेदकसंसर्गतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगिता-वच्छेदकरूपावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगितावच्छेदकीभूतावच्छेदकता-त्वावच्छिन्ननिरूप्यतानिरूपितनिरूपकताकसंसर्गताकत्वं हेतुतावच्छेदकसम्ब-न्धावच्छिन्नत्वमित्यादिरीत्या परिष्करणीयम् । तत्रापि धूमजलान्यतराधि-करणत्वनिरूपकाधेयतावच्छेदकान्तर्गतधूमत्ववृत्तित्वविशिष्टावच्छेदकतात्वमा-दाय दोषवारणाय तत्रापि किंचिदपरं निवेश्यं विशेषणमिति रीत्या बहुत-रहायनाध्ययनाऽऽकलनीयस्य तावताप्यलमनिर्णीतस्य व्याप्तिस्वरूपस्याऽऽ-पामरसाधारणधूमहेतुकवह्न्याद्यनुमितिहेतुत्वं को वा विचारचणो मनी-षिवरोऽनुमन्वीत । न चानवगतपदार्थानामपि संसर्गविधया भानोपगमान्न दोष इति वाच्यम् । तद्भानप्रयोजकविरहात् । भूयोदर्शनबाधाभावप्रभृतेस्त-थात्वे तस्य प्रमाणान्तरतापत्तेः । यथापरिष्कृतपर्याप्त्यादिपरम्परायाः संस-र्गतायां मानाभावाच्च । धूमजलान्यतरत्वाद्यननुसन्धाने पर्याप्त्याद्यघटित-व्याप्तिस्वरूपज्ञानं कारणं तदनुसन्धाने तद्घटितज्ञानं कारणमिति स्वीकारे-ऽननुगमः कथं वार्यताम् ? अवच्छेदकतासंसर्गताद्यनन्तपदार्थेषु कारण-तावच्छेदकत्वतत्संसर्गादिकल्पनायामतिगौरवेणाखण्डविलक्षणनियमशक्तौ कारणत्वकल्पनायां लाघवं च स्फुटतरम् । न च शक्तीनामननुगमः । भवन्मतेऽपि साध्यसाधनभेदेन व्याप्त्यननुगमात् । व्याप्त्यात्मकानन्तशक्तिषु व्याप्तित्वात्मकशक्तिविशेषान्तरस्यास्माभिर्वक्तुं शक्यत्वाच्च । तस्माद् यदि कस्यचिदधीतन्यायशास्त्रविस्तरस्यानुमितिपूर्वं तदीयपरिभाषितव्याप्तिज्ञानं भवेत्तदपि भगवन्नियतिलक्षणव्याप्तिपरिचायकमेवेति भावः ॥१२॥

स्वार्थानुमानं निरूप्य परार्थानुमानं न्यायवाक्यप्रयोगात्मकं निरूपयति तत्रानात्मसाधकवचनानां व्यर्थकालापनयनमात्रात्मकत्वान्मोक्षप्रयोजनौप-

इत्यादिकं न्यायवचस्त्वदीयां
संसाधयत्यद्वयतां महात्मन् ॥१३॥

द्वैतप्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि यह जड है, जैसे रज्जु-सर्प इत्यादि न्यायवचन आप की अद्वयता सिद्ध करता है ॥१३॥

सकर्तृकं विश्वमिदं विचित्रं
कार्यत्वहेतोर्घटवत् तथा च ।
नैवास्मदादेरिह कर्तृताऽतोऽ-
नुमा भवन्तं गमयेन्महान्तम् ॥१४॥

विचित्र रचनात्मक यह विश्व घट के समान कार्य होने से कर्त्तृपूर्वक अवश्य होना चाहिये। इस अनन्त जगत् के कर्त्ता हम जैसे अल्पज्ञ तो नहीं हो सकते अतः सर्वज्ञ परमात्मा सिद्ध होता है ॥१४॥

यिक्रमद्वैतसिद्ध्यनुकूलं वाक्यमुपन्यस्यति—द्वैतेति। इत्यादिकम्=एवमादिकम्। तथा चैतेनैव न्यायलक्षणमन्यत्रोन्नेयमिति भावः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनलक्षणपञ्चावयववाक्यं न्याय इति तार्किकोक्तसंख्यायामनास्थासूचनार्थमादिपदेनावश्यकपरिग्रहणम्। प्रतिज्ञादिकं त्रयमुदाहरणादिकं वेति वृद्धाः ॥१३॥

जगन्मिथ्यात्वं प्रसाध्य परमात्मसत्त्वं साधयति-सकर्त्तृकमिति। विचित्रमिदं विश्वं सकर्त्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। न चास्मदादीनामल्पज्ञाल्पशक्तीनामिह कर्त्तृत्वं संभवतीतीतरबाधेन तत्कर्त्तृत्वेन महतः सर्वज्ञ-

श्रुतिसंश्रयिभिर्भवत्प्रमाया
भगवन् दार्ढ्यविधानतः प्रयुक्ताम् ।
अनुमां च तदीयसाधनं च
प्रतिबध्नन्तु कथं नु दूषणानि ॥१५॥

हे भगवन् ! श्रुति के आश्रयण से प्राप्त परमेश्वर ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रयुक्त अनुमान एवं उसके साधन को दूषण कैसे रोक सकेंगे ॥१५॥

न सिषाधयिषावतः शतं
प्रतिबध्नन्ति हि साध्यसिद्धयः ।

सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य सिद्धिरित्यर्थः । शुद्धब्रह्मबोधस्तूपनिषद्भिरेवेति हृदयम् ॥१४॥

यथोक्तानुमानस्य सदूषणत्वशङ्कामपास्यति—श्रुतिसंश्रयिभिरिति । एतेन श्रुतेरेव परमप्रामाण्यमिति सूचितम् । दार्ढ्यविधानत इति । स्वातन्त्र्येणानुमा तु न भगवन्तं गमयतीति स्पष्टं बृहदारण्यक (घट) भाष्ये । अनुमां चेत्यादि । एतेन दोषसामान्यलक्षणमप्युक्तं भवति अनुमितितत्साधनान्यतरविरोधित्वं हि तल्लक्षणम् । प्रकृतानुमितिनिष्ठकार्यता-साक्षात्कारजनकसाक्षात्कारविषयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रति-बन्धकतावच्छेदकविषयतावच्छेदकरूपवत्वं विशिष्टद्वयाघटितत्वविशिष्टान्तरा-घटितत्वादिघटितं गदाधरादिभिर्लक्षणं निष्कर्षितम् ॥१५॥

ननु मा भूत् श्रुतिसंश्रयिणां हेतुदूषणानि । श्रुतिसिद्धत्वादेव सिद्ध-साधनता दुर्वारेति पुनरप्यसंभवि भगवदनुमानमित्यत आह—नेति । ननु

श्रुतिसिद्धविधोऽपि साध्यते
नृहरेऽस्तोऽनुमया मया भवान् ॥१६॥

सिद्धिसत्त्वेऽपि सिषाधयिषावतोऽनुमितिर्भवतीति न प्रामाणिकमित्याशङ्कां स्वानुभवेन सर्वानुभवसमानेनापास्यति—मया साध्यत इति। तथा च सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिसत्त्वे एव सिद्धसाधनत्वं दोष इति भावः अथ वा यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यत्पक्षकयत्साध्यकयद्धेतुकानुमितिरानुभाविकी तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्धिसत्त्वे सेत्यनुभवघटनार्थमिदम्। नैयायिकास्तु यथोक्तसिद्ध्यभावः पक्षता। तद्वति हेतोवैशिष्ट्यज्ञानमनुमितिकारणमिति वदन्ति। तन्न। यथोक्तसिद्धेः प्रतिबन्धकत्वे तदभावमात्रस्य कारणत्वेन पर्वतादौ तद्वैशिष्ट्यस्यापि कारणान्तःपातितायां मानाभावात्। न च कार्यसामानाधिकरण्याय सिद्ध्यभाववैशिष्ट्यं पर्वतादौ वक्तव्यमेवेति वाच्यम्। आत्मन्यनुमितिसिद्ध्यभावयोः सामानाधिकरण्येनैव कारणत्वोपपत्तेः। कथंचित्कारणतावच्छेदकसंसर्गत्वोपगमेऽपि उक्तवैशिष्ट्यस्य कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वासिद्धेश्च। न हि समवायेन घटं प्रति दण्डस्य केनचित्सम्बन्धेन मृदि स्थितस्य कारणत्वमात्रेण दण्डविशिष्टमृदः कारणत्वं केनापि तार्किकेणोपगतम्।

वस्तुतस्त्वभावस्यास्माकं मते कारणत्वमेव नास्ति। कारणत्वादेर्भावपदार्थस्याभावेऽसंभवात्। प्रतिबन्धकं हि कार्यं प्रतिबध्नाति। प्रतिबन्धकापनये च तैरेव कारणैः कार्यमुत्पद्यते। न च कारणसामग्रीसद्भावे कथं प्रतिबन्धकं प्रतिबध्नीयादिति वाच्यम्। अस्मन्मते शक्तेः पदार्थान्तरतया प्रतिबन्धकेन शक्त्यभिभवेन कार्यानुत्पत्तेः। किं च वाचस्पत्यमतेऽभावस्य पदार्थान्तरत्वेऽपि संप्रदायविदां नाभावः पदार्थान्तरम्। केवलभूतलं हि घटविरहः। घटो हि भूतलस्याधिकरणत्वं प्रयोजयति। घटविरहे प्रयोजकविरहाद् भूतलत्वमात्रमवतिष्ठते। नास्तीति चासदुच्यते। कथमसतोऽस्तित्वं येनाभावोऽस्तीति स्वीक्रियताम्! असदिति च शब्दव्यवहारमात्रम्। न तु

सिषाधयिषा यदि हो तो सैकड़ों साध्यसिद्धि भी अनुमान को रोक नहीं सकती। अतः श्रुतिसिद्ध होने पर भी परमेश्वर को अनुमान से हम सिद्ध कर सकते हैं ॥१६॥

मायाधिरूढस्त्वमुपैषि विष्णो
सर्वज्ञतां चाखिलकर्तृतां च ।
नासिद्धिबाधव्यभिचारदोषा
विरुद्धता सत्प्रतिपक्षता वा ॥१७॥

हे विष्णो! आप मायाधिरूढ होकर सर्वज्ञ एवं सर्वकर्त्ता होते हैं अत एव उक्त अनुमान में असिद्धि बाध व्यभिचार विरोध एवं सत्प्रतिपक्ष नाम के दोष संभव नहीं है।

वाच्यार्थः कश्चित्। उक्तं च "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इति। न चाभावानभ्युपगमे केवलं भूतलं भूतलत्वमात्रमित्यादौ केवलमात्रादिपदार्थनिर्वचनं न स्यादिति वाच्यम्। अभावस्य पदार्थान्तरत्वस्वीकारेऽपि तन्निर्वचनासंभवात् घटाभावः पदार्थान्तरं किं खलु करिष्यति घटस्य। यच्च स करिष्यति तदवश्यं स्वरूपसम्बन्धविधया त्वयोपगमनीयतत्तद्देशकालविशिष्टभूतलेनैव भविष्यति। अभावः पदार्थ इति शृण्वन्तो बाला अप्युपहसेयुः। खण्डनकारोक्तयुक्तयश्च पृथगेवात्रावतिष्ठन्त इत्यलं विस्तरेण ॥१६॥

नन्वसङ्गस्य ब्रह्मण एव श्रुतितात्पर्यविषयत्वाद् यथोक्तानुमानेन च कर्तृत्वादिसङ्गसहितस्यैव परमात्मनः सिद्धेरत्रासिद्ध्यादिदोषाः संभाव्यन्त एवेत्यत आह—मायेति। सकलवासनायुक्तत्वान्मायाया जगतश्चोच्छूनवासनात्मकत्वात्तत्प्रकाशकतया युक्तमौपाधिकब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिकमित्यर्थः। नासिद्धीति। तेनेत्यादिः ॥ १७ ॥

पक्षे न हेतुर्यदि तर्ह्यसिद्धिः
प्रात्यक्षिकं जन्म किलाङ्कुरादेः ।
आकाशमुख्यस्य तु तैत्तिरीया
भवत्सकाशाज्जनिमामनन्ति ॥ १८ ॥

पक्ष में यदि हेतु न हो तो असिद्धि दोष माना जाता है । उक्तानुमान का कार्यत्व हेतु अङ्कुरादि में प्रत्यक्षसिद्ध है । और आकाशादि का आप से जन्म तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है ॥ १८ ॥

साध्यस्य मानान्तरतो ह्यभावः
पक्षे प्रमीयेत तदैव बाधः

नासिद्धीत्याद्युक्तं विवृणोति पक्ष इत्यादिभिः । हेत्वभाववत्पक्षत्वमसिद्धिः । कार्यत्वहेतुश्चाङ्कुरादेः प्रत्यक्षसिद्धः । नन्वेवमपि विश्वान्तःपात्याकाशादेः कार्यत्वमसिद्धमित्यत आह—आकाशेति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत" इत्यादिश्रुतेराकाशादेरपि कार्यत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ १८ ॥

साध्यस्येति । साध्याभाववत्पक्षत्वं बाधः । न च जल्पस्थले न्यायवचःप्रयोक्तॄणां स्वस्वसिद्धान्तानुसारेण सिषाधयिषिते साध्ये यथोक्तबाधोद्भावनं न शक्यते कर्तुं स्वार्थस्थले साध्याभावनिश्चयवतः साध्यानुमित्सादिविरहान्नानुमानप्रसक्तिरेवेति बाधस्य दोषत्वमनुपयुक्तमिति वाच्यम् । जल्पस्थलेऽपि बाधस्य प्रमीयमाणतया संप्रतिपत्तौ दूषणत्वात् अन्यथा परपराजयासंभवात् । एतदेवाभिप्रेत्य प्रमीयेतेत्युक्तम् । प्रमीय-

श्रुत्यैव सिद्धं भवदुद्भवत्वं
विश्वस्य संसाधयतः कथं सः ।१९।

साध्य का अभाव यदि मानान्तर से पक्ष में प्रमित हो तभी बाध होता है। हे भगवन्! आप से जगत् उत्पन्न होता है इस श्रुति सिद्ध अर्थ को साधने वालों के सामने यह बाध दोष कैसे आ सकता है ॥१९॥

या साध्यशून्ये स्थितिरस्ति हेतो-
स्तं प्रब्रुवन्ति व्यभिचारदोषम् ।
सर्वं जगच्चेद्भवदुद्भवं तत्-
संभाव्यतां सोऽपि कथं सदात्मन् ।२०।

साध्य शून्य स्थल में हेतु हो तो व्यभिचार दोष माना जाता है। समस्त जगत् जब भगवान् से उत्पन्न है तो उसकी संभावना कैसी होगी ॥२०॥

माणत्वेन निश्चीयेतेत्यर्थः। श्रुत्यैवेति। स इदं सर्वमसृजतेत्यादिश्रुत्यैवेत्यर्थः। न चाकर्तृकत्वं मानान्तरेण प्रमितम्। अकर्तृकमजन्यत्वादित्याद्यनुमानमनेनैवानुमानेन सत्प्रतिपक्षितम्। सिद्धमिति। सिषाधयिषितत्वाच्च न सिद्धसाधनता स्वार्थस्थले। एतदुक्तं भवति। श्रुतिरेव बाधं प्रतिरुणद्धीति ॥१९॥

या साध्येति। साध्याभाववद्वृत्तिहेतुत्वं व्यभिचारदोषः धूमवान् वह्नेरित्यादौ प्रसिद्धः। न च विश्वस्य पक्षतायां सामानाधिकरण्येन सकर्तृकत्वसाधने घटादौ सिद्धसाधनं, घटादेः सकर्तृकत्वसिषाधयिषाया व्यर्थ-

त्वन्नामरूपान्नजनिप्रशास्तृ-
श्रुतिप्रमोपोद्बलितानुमायाम् ।
हेत्वन्तरं साध्यविरोध्यभाव-
व्याप्यं क्व वा सत्प्रतिपक्षताख्यम् ।२१

हे परमेश्वर ! आप से ही नाम रूप और अन्न की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतिप्रमाण से प्रबलीभूत अनुमान में साध्याभाव के व्याप्य हेतुवाला पक्षरूपी सत्प्रतिपक्ष कैसे संभव है ॥ २१ ॥

उदीरितं लिङ्गमकौशलाद् द्युम-

त्वेन मुमुक्षुभिरनादृतत्वादिति अस्मदाद्यतिरिक्तत्वं साध्यविशेषणं देयम् । तथा च घटादावेव व्यभिचारदोषो दुर्वार इति वाच्यम् । अवच्छेदकाव-च्छेदेन साध्यतायां सिद्धसाधनत्वाभावात् क्षित्यङ्कुरादिमात्रस्य पक्षतायां क्षतिविरहात् घटादेरपीश्वरकृतिजन्यत्वोपगमाच्च । ईश्वरकृत्यादेः साधारण-कारणत्वान्नास्मदादिकृतिवैयर्थ्यम् । ज्ञानक्रिये शिवेनैक्यात्संक्रान्ते सर्व-जन्तुषु इति वार्त्तिककारोक्तेरस्मदादिकृतेरपि भगवत्कृत्यनन्यत्वाच्च इदं सर्वमसृजत यदिदं किंचेति श्रुतौ संकोचे मानाभावाच्चेति भावः ॥२०॥

त्वदिति । साध्याभावव्याप्यवत्पक्षत्वं सत्प्रतिपक्षलक्षणम् । अवच्छेद-कावच्छेदेन साध्यतायामेकदेशेऽपि सत्प्रतिपक्षता भवति । आकाशादिकम-कर्तृकं शरीराजन्यत्वादिति न प्रकृते संभवति । यः सर्वज्ञः स सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायत इति श्रुतेरुक्तसत्प्र-तिपक्षानुमानस्य बाधितत्वात् । अत्र त्वदिति पञ्चम्यन्तम् ॥ २१ ॥

उदीरितमिति । साध्याभावव्याप्यहेतुत्वं विरोधः क्षितिर्नित्या परिणा-

ह्यसाध्यताऽव्याप्यविधां दधाति चेत् ।
तदा विरोधः स कथं त्वयि स्वयं
जगद्विधातर्यधिजाग्रतीश्वरे ॥२२॥

हे द्युमन् ! अकुशलता के कारण प्रयुक्त हेतु साध्याभाव का साधक हो तो विरोध दोष होता है। आप जगद्विधाता है। अतः आपके साधन में यह दोष नहीं आ सकता ॥२२॥

यद्यप्यशेषं जगदद्वितीये
प्रबाधितं भूम्नि सकर्तृताकम् ।
तथापि विष्णो व्यवहारभूमौ
त्वत्साधनेऽबाधितमेव मन्ये॥२३॥

हे परमेश्वर! यद्यपि अद्वितीय भूमा में कर्त्तृत्वादि सहित समस्त जगत् बाधित है तथापि व्यवहारकाल में अबाधित होने से आप को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हेतु बाध दोष दूषित नहीं है ॥ २३ ॥

मित्वादित्यादौ ॥ २२ ॥

यद्यपीति । यावद्ब्रह्मज्ञानमबाधितेन तथाविधहेतुसाधितेन साध्येन कर्त्तृत्वादिना ब्रह्मोपलक्षणसंभवात्सार्थकमनुमानम् । तथैव तटस्थब्रह्मलक्षणानां श्रौतानामपि विनियोगात् ॥ २३ ॥

सर्वत्र नो व्यभिचरत्यविरुद्धरूपो
योऽबाधितः प्रभुरसत्प्रतिपक्षकश्च ।
यश्च स्वयंप्रभ इति स्वयमेव सिद्ध-
स्तं सर्वहेतुमनिशं भगवन्तमीडे ॥२४॥

जो सर्वत्र अव्यभिचरितरूप से रहता है, जो एक रस है, अबाधित है जिसका कोई प्रतिपक्षी नहीं है जो स्वयं प्रकाश होने से स्वतः सिद्ध है प्रभु है, संसार के हेतु उस परमेश्वर को हम निरन्तर स्तुति करते हैं ॥२४॥

एवं न्यायशास्त्रदर्शितदिशा हेत्वाभासाः प्रदर्शिताः । वस्तुतस्तु श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादिश्रुतेः श्रुतिसिद्धार्थस्यैव मननीयत्वात्तत्र बाधादेरसंभावितत्वाद् व्यभिचरितादिहेतुना तत्साधनेऽपि संवादिभ्रमवत् चत्यजनकत्वात् श्रुतितात्पर्याविषयार्थसाधने यथोक्तदोषाणां संभवेऽपि तादृशार्थस्य मुमुक्षुभिरमननीयत्वादुक्तेषु दोषेष्वनास्थैवास्माकमित्याशयवानन्यथैव दोषनामान्युपादाय निवारयति—सर्वत्रेति । नो व्यभिचरतीति । व्यापक इत्यर्थः । अविरुद्धरूप इति । एकरस इत्यर्थः । जगत्तु परस्परविरुद्धस्वभावमनिर्वचनीयं च । अबाधित इति । रज्जुभुजङ्गवज्जगद् बाध्यं, न च तथा परमेश्वर इत्यर्थः । असत्प्रतिपक्षकश्च इति । न तत्समश्चाभ्यधिकः कुतोऽन्य इत्यादिश्रुतेः । स्वयमेव सिद्ध इति । तथा च नासिद्धतादोष इति भावः । सर्वहेतुमिति । न तु पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमादिहेतुर्हेतुः । अथ वा दोषपरिहाराणां हेतुनिरूपणस्य च परमं प्रयोजनं परमेश्वरबोध एवेत्याशयेन व्याख्याति—सर्वत्रेत्यादि । व्याख्या पूर्ववदेव ॥२४॥

॥ इत्यनुमाननिरूपणम् ॥

व्यावृत्तिबोधफलकादुपमानतस्तु
गोसाम्यवद्धि गवये गवयान्यभावम् ।
आकाशवद्विभुरिति श्रुतिसिद्धसाम्याद्
भिन्दन्ति नाथ सुधियो हि परिच्छिदां ते ॥

उपमान का इतर व्यावृत्ति विशेष फल है। जैसे गो सदृश गवय होता है सुनने से गवयेतर पशुओं का व्यवच्छेद होता है वैसे आकाश के समान विभु है कहने से हे भगवन् ! आप में अन्य वस्तुओं का व्यवच्छेद सिद्ध होता है ॥२५॥

यस्योपमानं न हि किंचनाथा-

इदानीमुपमानं निरूपयति—व्यावृत्तीति । गोसदृशो गवय इत्यादिवचनाद् गवयचित्रादिदर्शनाच्च गवेतराश्वादिभिन्नं गोभिन्नं च विलक्षणं पशुविशेषं यत्प्रस्येति तदुपमानम् । गवयावलोकनोत्तरं तु अयमेव मयोपमितो गवय इति प्रत्यभिज्ञानमेव । यथा पर्वतं गतस्यायमेव मयानुमितो वह्निरिति दृष्टवह्निकस्य प्रत्यभिज्ञानमिति । आकाशवद्विभुरिति श्रौतवाक्यात् आकाशेतराऽव्यापकवाय्वादिव्यावृत्तिमाकाशभेदञ्च पुरस्कृत्य परमात्मनो बोधो भवति । व्याप्तिस्फुरणस्थले इदमनुमानसहायकमन्यथा स्वतन्त्रं प्रमाणमिति द्रष्टव्यम् । उपमानतः शक्तिग्रहं फलं केचिदिच्छन्ति । इतरे च गोसदृशो गवय इति ज्ञानाद् गवयसादृश्यं गवि बुध्यत इत्यादि । तच्चिन्त्यम् । गवा गवयमुपमिनोमीत्यनुव्यवसायसिद्धौपम्यज्ञानस्य शक्तिग्रहाद्यात्मकत्वाऽसंप्रत्ययात् ॥ २५ ॥

उपमानमुपसंहरन् भगवन्तं स्तौति–यस्येति । उपमानं न हीति ।

...यौपम्यतः संप्रतिपद्यते यः ।
बोधस्वरूपोऽप्यवबोध्यमानः
श्रीशं तमीशं शरणं व्रजामः ॥२६॥

जिसकी कोई उपमा नहीं है फिर भी जो औपम्य से जाना जाता है जो स्वयं बोधस्वरूप होने पर भी बोधित होता है उस श्रीपति परमात्मा की हम शरण में आये हैं ॥२६॥

वाक्यं प्रमाणं प्रतिपद्यमानं
द्वारं जगुस्तत्र पदार्थबोधम् ।

निर्धर्मकत्वान्न तत्समश्चेत्यादिश्रुतेश्च । औपम्यतः संप्रतिपद्यत इति । इतरव्यवच्छेदेनेति भावः । यथा बोधस्य बोध्यत्वं नास्ति तथाप्यावरण-व्यवच्छेदेन बोध्यत्वं भवतीति दृष्टान्तार्थस्तृतीयपादः ॥२६॥

॥ इत्युपमाननिरूपणम् ॥

प्रत्यक्षमनुमानं चापामरसाधारणमनुमानौपयिकमुपमानमपि तथेत्यन-धीतशास्त्रसाधारणं चेत्यभ्यर्हिततमोऽपि शब्दो न प्रथमं निरूपितः । यद्य-प्यर्थापत्तिरनुमानसमकक्षा । अत एवोद्देशग्रन्थ उपमानोत्तरं सा निर्दिष्टा तथापि तस्याः कुशलबुद्धिगम्यत्वाच्छ्रुतार्थापत्तेश्च शब्दानन्तरनिरूपणी-यत्वाच्चाधुना निरूपणीयतया प्राप्तं शब्दप्रमाणं निरूपयति वाक्यमिति । पदं प्रमाणमिति तार्किकास्तन्न । वेदवाक्यं प्रमाणं गुरुवाक्यं प्रमाणमिति सर्वैर्व्यपदेशात् । विस्तरस्तु वेदान्तमन्दारतर्वादौ । प्रतिपद्यमानमिति । यत्तु पदं वाक्यं वा न प्रमाणं किन्तु तज्ज्ञानमिति तदप्युक्तयुक्त्यैव प्रत्युक्तम् । न हि वेदज्ञानं प्रमाणमिति क्वापि व्यपदेशः । किन्तु वेदाः

वाक्यार्थबोधे च फले तदीये
स्फुरन्नसि त्वं स्फुरणस्वभावः ॥२७॥

ज्ञायमान वाक्य प्रमाण माना गया है। उस में पदार्थ बोध द्वार कारण है। वाक्यार्थ बोध फल है। उस फल में हे भगवन्! स्फुरणस्वरूप आप ही स्फुरित होते हैं ॥२७॥

आकाङ्क्षितानेकपदात्मकेन
वाक्येन तात्पर्यसहायभाजा
प्रायो हि लोके व्यवहारबोधो
भवेत्क्वचिच्चैव भवत्प्रबोधः ॥२८॥

आकाङ्क्षा वाले पदों का समूह वाक्य कहलाता है। तात्पर्यज्ञान की सहायता से वाक्य से प्रायः लोक में व्यवहारबोध होता है और कहीं कहीं आपका प्रबोध होता है।

प्रमाणमित्येव। स्वतस्तस्य प्रमाऽजनकत्वात्प्रतिपद्यमानत्वं विशेषणम्। नित्यत्वाच्च शब्दानां नाऽव्यवहितपूर्वत्वानुपपत्तिः ॥२७॥

आकाङ्क्षा योग्यता संनिधिस्तात्पर्यज्ञानमिति चतुर्णां पृथग् हेतुत्वं तार्किकैर्यदुक्तं तदप्यस्वीकुर्वन्नाह—आकाङ्क्षितेति। तात्पर्यसहायभाजेति। अर्थसंशयस्थले तात्पर्यनिर्णायकं प्रकरणषड्लिङ्गादिकं शाब्दबोधे सहायकं भवति। तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वमन्यत्र निरस्तम्। प्रायः=घटमानयेत्यादौ। क्वचित्=ईशो जगत्सृजतीत्यादौ ॥ २८ ॥

अपौरुषेयं वचनं तु वेदो
निरस्तपुंदोषमपास्तशङ्कम् ।
परं प्रमाणं भगवंस्तमाहु-
स्तत्त्वं विशुद्धं तव यद् व्यनक्ति ।२९

अपौरुषेय वचन वेद कहलाता है। अतएव उसमें विप्रलिप्सादि पुरुषदोष नहीं है शङ्काकलङ्क रहित है। हे भगवन्! महापुरुषों ने इन्हीं वेदों को परम प्रमाण बताया है, कारण ये आप के विशुद्ध तत्व का प्रतिपादन करते हैं ॥ २९ ॥

अबाधितार्थं ह्यवगाहमाना
प्रमेति लोकेषु किल प्रसिद्धम् ।
न त्वत्परः कश्चिदबाधितोऽत-

वाक्यं द्विविधम् । लौकिकं वैदिकं च । तत्र लौकिकेन प्रायो व्यवहारबोधः कचिच्च भगवत्प्रबोध इत्युक्त्वाधुना वैदिकं वाक्यं निरूपयति—अपौरुषेयमिति । परमेश्वरः पूर्वकल्पीयं वेदमेव ब्रह्मादिभ्यः उपदिशति न तु नूतनम् । तावतैव निश्वसितादिश्रुत्युपपत्तेर्न पुरुषकृतत्वं वेदानां सिद्ध्यतीति बोध्यम् ॥ २९ ॥

ननु भवत्तत्त्वव्यञ्जकस्य कुतः परप्रमाणत्वमित्यत आह—अबाधितेति। अबाधितार्थविषयकज्ञानं प्रमा । तादृशार्थप्रतिपादकं च प्रमाणम् । परमेश्वरस्यैवाबाधितार्थत्वाद्युक्तं तत्प्रतिपादकस्य वेदस्य परं प्रामाण्यमित्यर्थः । अन्यत्र तु प्रमेति नाम व्यवहारमात्रमिति वक्ष्यति ॥ ३० ॥

स्त्वदर्पकं वेदवचः प्रमाणम् ॥३०॥

अबाधित अर्थ को अवगाहन करने वाला ज्ञान ही प्रमा है। परमेश्वर से अतिरिक्त कोई अबाधित अर्थ है नहीं अतः हे भगवान्! आपका प्रतिपादन करने वाला वेदवचन प्रमाण सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

स्वसिद्धमपि सन्तमौपनिषदं भवन्तं द्युम-
न्नलिङ्गमसमोर्द्ध्वमेकमतिगोचरप्राङ्गणम्।

ननु कथं सिद्धार्थप्रतिपादकतया वेदानां प्रामाण्यमुच्यते इति शङ्कमानं मीमांसकं प्रत्याह—स्वसिद्धमपीति। न ह्यसिद्धार्थप्रतिपादकत्वं प्रामाण्ये तन्त्रं किन्त्वनवगतार्थप्रतिपादकत्वमेव। तच्च ब्रह्मणोऽक्षतमेवेत्याह—औपनिषदमिति। उपनिषन्मात्रगम्यमित्यर्थः। कथमित्यत—अलिङ्गमित्यादि। लिङ्गरहितत्वादननुमेयमसमोर्द्ध्वत्वादनुपमेयम्। एतेनैव प्रमाणान्तरनिरासोऽपि बोध्यः। सजातीयादिभेदस्थले एव जातिगुणक्रियादिमतोऽनुमानादिकं भवति। परमात्मा तु ततः पर एवेत्याहैकमिति। अतिगोचरप्राङ्गणम् प्रत्यक्षागम्यम्। नन्वस्मत्परिभाषानुसारेणाऽसिद्धार्थप्रतिपादकस्यैव प्रामाण्यमित्याशङ्कायां व्यर्थैवेयं परिभाषा। यतः प्रवृत्तिजनकत्वेनैवापूर्वयागादिक्रियार्थप्रतिपादकानां वेदानां प्रामाण्यं भवद्भिर्व्यवस्थापनीयम्। अन्यादृशस्वमनीषाकल्पितार्थवचनानामुन्मत्तप्रलापमात्रत्वात्। प्रवृत्तिश्च सुखदुःखाभावलक्षणपुरुषार्थमभीप्सतो भवति। सुखदुःखाभावप्रयोजकीभूतापूर्वार्थज्ञानजनकत्वं प्रमाण्यमिति निष्कर्षः। तच्च ब्रह्मबोधकत्वेनापि वेदानां सुघटम्। ब्रह्मज्ञानस्य सुखादुःखाभावरूपपुरुषार्थप्रयोजकत्वात्तस्य च मानान्तराविषयस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वेन वेदानां

अवेत्य सकलार्थदं श्रुतिगिरः कृतार्था यत-
श्चरन्ति यतिपुङ्गवा भुवि ततः प्रमाणं श्रुतिः ३१

स्वयं सिद्ध होने पर भी उपनिषद्मात्रवेद्य, लिङ्गरहित, अन्य समान या उत्कृष्ट से रहित, अद्वितीय, इन्द्रियातीत आप को जो कि सकलाभीष्टदायी हैं, वेदवाणी से जान कर कृतकृत्य हुए यति महात्मावर्ग इस भूतल में ही विचरते हैं। अतः हे भगवन्! वेद प्रमाण है ॥३१॥

अर्थे द्वेधा वृत्तिरुक्ता पदानां
शक्तिर्मुख्या लक्षणान्या जघन्या।
शक्त्या जुष्टं बोधयेत्त्वां विशिष्टं
शुद्धं भूमँल्लक्षणावृत्तितश्च ॥३२॥

अर्थ में पदों की दो प्रकार की वृत्ति होती है शक्ति

प्रामाण्यध्रौव्यादित्याशयेन समाधत्ते—अवेत्येत्यादि। सकलार्थदमिति। एतेन परमप्रामाण्यं व्यञ्जितम्। श्रुतिगिर इति पञ्चम्यन्तम्। यज्ञादिकारिणामकृतकृत्यत्वात्प्रत्युत तद्वचनानामेव प्रामाण्ये शङ्केत्याशयेनाह—कृतार्था इति। को वा वेदामुत्रास्ति वा न वेत्येवं वेदेनैवार्थवादरूपेण स्वर्गे सन्देहः कारितः। इह तु नास्ति तथाविधोऽपि संशयः। फलस्य प्रत्यक्षत्वादत्र ब्रह्म समश्नुत इति श्रुतेश्चेत्याशयवानाह—चरन्ति यतिपुङ्गवा भुवीति। भुवि न तु मरणोत्तरं स्वर्गलोक इति भावः ॥३१॥

पदार्थबोधस्य द्वारत्वमुक्तम्। पदार्थत्वं विवृणोति अर्थ इति। घटादिशक्तिलक्षणयोरत्रानतिप्रयोजनत्वादाह—शक्त्येत्यादि ॥३२॥

मुख्य वृत्ति है और लक्षणा जघन्य वृत्ति है। शक्ति से विशिष्ट परमेश्वर का बोध होता है, शुद्ध का तो लक्षणा-वृत्ति से ही बोध होता है ॥३२॥

इदं पदं ह्यर्थमिमं प्रबोधये-
दिति त्वदिच्छां कतिचित्तु तान्त्रिकाः ।
परे तु शक्तिं पृथगेव शक्तिमन्
जगुः पदार्थान्तरमेव चेतरे ॥३३॥

अमुकपद से अमुक अर्थ का बोध हो ऐसी भगवदिच्छा ही शक्ति है ऐसे कुछ दार्शनिक मानते हैं। हे शक्तिमन्! अन्य लोग शक्ति को इच्छा से पृथक् ही मानते हैं। दूसरे उसे पदार्थान्तर ही मानते हैं ॥३३॥

शक्तिं व्यक्तौ तव कतिपये शक्त्यवच्छेदकत्वं
जातौ जातावपि च कतिचित्तां क्रियायां गुणे च ।

इदं पदमिममर्थं बोधयत्विति पदविशेष्यिका वा अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्यर्थविशेष्यिका वा भगवदिच्छा पदशक्तिरिति तार्किकाः। भगवतः शक्तिमत्त्वादिच्छातिरिक्तैवैषा भगवतः शक्तिरिति परे। मीमांसकादयस्तु पदार्थान्तरमेव शक्तिरिति मेनिरे। द्वितीयं मतमेवात्र युक्तमित्याशयेन संबोधयति—शक्तिमन्निति ॥३३॥ शक्तिमित्यादि।

केचिन्नव्यतार्किका व्यक्तावेव शक्तिर्गोत्वादिजातेः शक्यतावच्छेदकत्वान्नानुगम इत्याहुः। कतिचिन्मीमांसकैकदेशिनः जातौ शक्तिमाहुः। तथा हि अनधिगतार्थबोधकत्वलक्षणप्रामाण्योपपत्तये शक्त्यनुपस्थितस्यापि अपूर्वव्यक्तितत्सम्बन्धादेराकाङ्क्षाबलेन शब्दबोधे भानं सर्वैरुपगन्तव्यमिति

सम्बन्धे चाप्यनुगतविधामाहुरेतैर्यथास्वं
श्रीमज्जात्यादिभिरभिदधुस्तां विशिष्टे च शिष्टाः ॥

कुछ लोग व्यक्ति में शक्ति मानते हैं और दूसरे जाति क्रिया गुण एवं सम्बन्ध में मानते हैं। परन्तु संप्रदायवेत्ता शिष्टवर्ग जाति आदि से विशिष्ट व्यक्ति में यथायथ शक्ति स्वीकार करते हैं ॥३४॥

वृथैव व्यक्तौ शक्तिस्वीकारः। न च गौः शक्य इत्येवं शक्तिग्रहे व्यक्तौ शक्तिसिद्धिः। गोत्वं शक्यमित्येवं तत्स्वीकारे गोत्वत्वं सकलगोघटितं शक्यतावच्छेदकं वक्तव्यमिति गौरवमिति वाच्यम्। स्वरूपसत्यामेव गोत्व-जातौ गौः शक्य इत्येवं शक्तिग्रहोपगमात्। जातेर्व्यक्तिवित्तिवेद्यत्वात्तु व्यक्त्युल्लेखः। अन्यथा भवन्मतेऽपि गोत्वे शक्यत्वस्य शक्यतावच्छेद-कत्वस्य वा ग्रहणानुपगमे गोपदेन द्रव्यत्वपदार्थत्वादिनापि गोबोधापत्तेः। न हि गौः शक्य इत्येवंविधग्रहणे शक्यतावच्छेदकत्वं भवदुक्तनियत्या गोत्वेऽवगाहितुं शक्यते। शक्यत्वाधिकरणतावच्छेदकत्वमात्रस्य तेनाव-गाहनात्। पृथिवी द्रव्यमित्यादिप्रतीतेर्न्यूनवृत्तिधर्मस्याप्यधिकरणताव-च्छेदकत्वं सिद्धमिति गौर्द्रव्यपदशक्यमित्यादिशक्तिग्रहस्यापि प्रामाणिकत्वं कथं वार्यताम्। न चासति बाधके पर्वतो वह्निमानित्यादौ उद्देश्यता-वच्छेदकपर्वतत्वावच्छेदेन वह्निमानवदत्रापि गोत्वावच्छिन्नशक्यत्वग्रहः सुवच इति वाच्यम्। उक्तदोषादेव। अधिकदेशवर्तिवह्नेरपि पर्वतत्वेनावच्छेदाद्। तस्मान्मूलावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगः इति प्रतीतिसिद्धावच्छेदकत्वात् पर्वतत्वावच्छेदेन वह्निरिति प्रतीतिसिद्धा-वच्छेदकत्वाच्च पृथगेव शक्यत्वप्रतियोगित्वाद्यवच्छेदकत्वम्। तच्च यदि गोत्वं शक्यतावच्छेदकमित्येवं गोत्वत्वाद्युल्लेखमन्तरापि स्वरू-पसति गोत्वे गौः शक्य इत्येतावन्मात्रेण ग्रहीतुं शक्यते तदा किमपराद्धं

स्वरूपसति गोत्वे शक्यत्वावगाहनेन। गौः शक्य इति शब्दप्रयोगस्तु अकिंचित्करः। येन पदार्थैकदेशे गोत्वे शक्यत्वान्वयो न युज्यत इति वक्तुं शक्यम्। नामार्थयोरभेदान्वयेन शक्या।भिन्न.वप्रकारेण भवतापि शक्ति-ग्रहस्य कारणताया वक्तुमशक्यत्वात्। न च वृत्त्यनुपस्थितस्यापि शाब्दबोधे भानोपगमे इषे त्वेत्यादौ छिनद्मीत्यादिशब्दाध्याहारो न स्यादिति वाच्यम्। वृत्त्युपस्थितजात्यनाश्रये एव शाब्दबोधाविषयत्वाङ्गीकारात्।

परे तु जाताविव गुणक्रियासम्बन्धेषु च शक्तिमाहुः। गौरो देवदत्त इत्यादौ गौरादिपदानां गुणे शक्तिः। न च तत्रापि गौरगुणत्वजातावेव शक्तिरस्त्विति वाच्यम्। गौरत्वाश्रयगौरगुणस्याभेदेन देवदत्तेऽन्वयायो-गात्। न च गौरवति लक्षणा। अरुणया सोमं क्रीणातीत्यादावपि तत्प्रसङ्गात्। न विधौ परः शब्दार्थ इति सिद्धान्तभङ्गापत्तेः।

देवदत्तः पचतीत्यादौ आख्यातस्य क्रियायां शक्तिस्तत्र तादात्म्येन देवदत्तस्यान्वयः। सा च भवितुर्भवनानुकूला इति भावनेत्युच्यते। बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नक्रियातिरिक्तः कृतिर्नाम गुणस्तु नाभ्युपेयत इति नासावाख्यातार्थः। पश्य मृगो धावतीत्यादौ पराभिमतात्मगुणकृतेर्दर्शना-संभवेन तस्या आख्यातार्थत्वासंभवाच्च। पचतीत्यत्राख्यातार्थक्रियायाः साध्यसाधनभावसम्बन्धेन धात्वर्थक्रियायामन्वयः। यजेतेत्यादौ तु लिङ-र्थेष्टेऽपि तथैवान्वयः। स्वर्गकामपदोपात्तस्वर्गस्य चेष्टेऽभेदान्वयः स्वर्ग-रूपेष्टतात्पर्यग्राहकं वा स्वर्गकामपदम्। न चैकपदोपात्तेष्टेन सह साध्य-साधनविधयाऽन्विताया आख्यातार्थक्रियाया धात्वर्थक्रियया सह पुनरन्वयो न संभवति। आकाङ्क्षोपशमात्। अत एव वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्यत्र वैश्वदेव्यन्वयोपशान्ताकाङ्क्षायामामिक्षायां न वाजिनान्वय इति धात्वर्थयागस्य करणविधया लिङर्थेष्टमात्रान्वयो युक्तः। यागेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थ इति वाच्यम्। यजेत यागं कुर्वीतेति विवरणदर्शनाद् यागेऽपि तदन्वयस्य वारयितुमशक्यत्वात्। असति बाधके उद्देश्यतावच्छे-कप्रयोज्यताया विधेये धनी सुखीत्यादौ दृष्टतया यागभावना स्वर्गानुकूलेत्य-

त्रापि यागप्रयोज्यत्वस्य स्वर्गे व्युत्पत्तिलभ्यत्वादेवोपपत्तेः। देवदत्तः पाचक इत्यादौ पाकानुकूलक्रियाया देवदत्ते तादात्म्येनान्वय इति विशेषः।

देवदत्तो गोमानित्यादौ गोमत्त्वं न गौरेव किन्तु गोसम्बन्धः। तदस्यास्तीति सम्बन्धे मतुपो विधानात्। इभ्यादिपदानामपि धनिपर्यायत्वाद् धनसम्बन्ध एवार्थः। न चैवं "गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इति कोशाद् देवदत्तो गौर इत्यादौ गौरवर्णसम्बन्ध एवार्थो न तु गुण इति वाच्यम्। तादात्म्यस्य सम्बन्धत्वानुपगमात्। अत्यन्तभिन्नयोरेव सम्बन्धत्वोपगमात्।

ननु सम्बन्धत्वोपगमानुपगमावकिंचित्करौ। गौरादिपदस्य तद्वदर्थकत्वेऽपि तादात्म्येन गौरान्वयोऽभ्युपगम्यते तथा गोमानित्यत्रापि स्वस्वामिभावसम्बन्धेन गोरन्वयो भविष्यतीति गवि शक्तिसिद्धिर्न तु सम्बन्धे। किं च खण्डो गौरित्यादौ गोपदशक्यगोत्वस्याकाङ्क्षादिलभ्ये गवि तस्य तादात्म्येन खण्डे च यथान्वयस्तथा देवदत्तो गौरः पचतीत्यादौ गौरत्वक्रियात्वादिजातावेव शक्तिं स्वीकृत्य तस्या गौरे क्रियायां तयोश्च तादात्म्येन देवदत्तेऽन्वयोऽस्तु इति जातावेव शक्तिरुपेया न तु क्रियादाविति।

अत्रोच्यते। खण्डत्वाश्रयस्य गोत्वाश्रयस्य चात्यन्ताभेदान्न तत्र तादात्म्यमपि। ऐक्यतादात्म्ययोश्च भेदाऽसहत्वभेदसहत्वाभ्यां भेद इति पञ्चीकरणटीकायामानन्दगिर्याचार्याः। अतस्तत्राभेदेनान्वय इत्युच्यते। विशिष्टस्य भेदाभेदस्वीकारोऽपि विशेषणांशमादायैव न तु विशेष्यांशमादाय। तस्माज्जातेरेव तत्र तादात्म्यान्वयः। गुणक्रिययोस्तु न द्रव्येण सहात्यन्ताभेद इति गौरत्वादेस्तादात्म्येनान्वयायोगात् गुणक्रिययोस्तथान्वयः। न हि गौरो देवदत्त इतिवत् गौरवान् देवदत्त इति प्रयुज्यते। क्वचित्तथाप्रयोगः परिभाषयैव। राहोः शिर इतिवदौपचारिको वा। गोमानित्येवं प्रयोगाच्च सम्बन्धे शक्तिसिद्धिः।

एतच्च मतं बहुभिर्वेदान्तिभिरप्युपगतम्। न सत्तन्नासदुच्यत इति गीताभाष्ये सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणश्च श्रोतृभिर्जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण संकेतग्रहणसव्यपेक्षमर्थं प्रत्याययतीति भाष्यकारै-

क्वचिज्जहत्या क्वचनाजहत्याऽ-
जहज्जहत्या क्वचनापि वाचः ।

रूढत्वात् । गवादिशब्दः शक्तिविषयीभूतगोत्वादिद्वारेण तुल्यवित्तिवेद्यतया वा कुब्जशक्त्या वा लक्षणादिप्रकारान्तरेण वा गवाद्यर्थं प्रत्याययतीत्यर्थः । अत एवाग्रे गुणशब्दः क्रियाशब्दः इत्येवं भाष्ये व्यपदिष्टम् ।

संप्रदायविदस्तु जात्यादिद्वारेण=जात्यादिपुरस्कारेण संकेतग्रहण-सव्यपेक्षमर्थं=शक्तिविषयीभूतमर्थमिति भाष्याक्षरार्थात् जात्यादिविशिष्टे एव शक्तिर्भाष्याभीष्टा । अत एवाग्रे न तु ब्रह्म जात्यादिमत् अतो न सदादिपदवाच्यमित्युक्तम् । गुणादिप्रकारकबोधजनकत्वाद् गुणशब्देत्यादि-व्याहारो न विरुद्धः । जात्यादिमतोऽर्थस्यैव वाच्यत्वं तत्रैव संगतिग्रहादिति प्रपञ्चयति सर्वो हीति इत्येवमुक्तभाष्यमवतारयद्भिरानन्दगिरिभिरप्ययमेवार्थः स्पष्टीकृतः । तत्रैव=जात्यादिमत्येव संगतिग्रहात्=शक्तिग्रहादित्यानन्द-गिरीयपदार्थः । एतेन वाच्यत्वं शक्तिविषयार्थप्रकारकबोधविशेष्यत्वमित्यु-क्त्यापि न व्यक्तिशक्तिनिरासः । न चोपदर्शितरीत्या जात्यादिशक्त्या निर्वाहे व्यक्तिशक्तिस्वीकारोऽयुक्त इति वाच्यम् । खण्डो गौरित्यादौ गोत्वस्य तादात्म्येन गोरभेदेन चान्वयसंभवेऽपि गामानयेत्यादौ तदयोगात् । अन्यथा गोमानित्यादावपि गोत्वादिमात्रशक्त्यापत्तेः । अभ्युपगमे वा गोमानित्यर्थे देवदत्तो गौरित्यपि प्रयोगः स्यात् ।

इत्थं च सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादौ भागत्यागलक्षणासिद्धान्तोऽपि संगच्छते । अन्यथा सर्वज्ञत्वादेरेव वाच्यार्थत्वापत्त्या जहल्लक्षणैव स्यात् । न हि चैतन्यत्वं जातिः येन भागरक्षा स्यात् । कल्पितजातिस्वीकारे तत्परित्यागं विना कथं कृतार्थता स्यादित्यलमल्पग्रन्थेऽतिविस्तरेण ॥३४॥

लक्षणां विभजते क्वचिदिति । वाच इति । पदवाक्याद्यात्मिका वाच इत्यर्थः । एतेन पदे एव लक्षणेति निरस्तम् । स्पष्टीकरिष्याम इदम्

क्वचिद्विशिष्टं क्वचनापि शुद्धं
तात्पर्यतो लक्षणया जगुस्त्वाम् ॥३५॥

कहीं जहत्लक्षणा से कहीं अजहत् लक्षणा से तथा कहीं जहदजहत् लक्षणा-भागत्याग लक्षणा से हे भगवन् ! कहीं विशिष्ट रूप से और कहीं शुद्ध रूप से तात्पर्यानुसार आपको वाणी बोधित करती है। (जहत्, अजहत् और भागत्याग ये तीन लक्षणायें मानी गयी हैं) ॥३५॥

नद्यां कुटीत्यत्र तटं ब्रवीति
प्रवाहमर्थं परिहाय यद्वत् ।
तथैव वेदेष्वपि कर्मकाण्डं
स्वार्थं विहायाह भवन्तमीशम् ॥३६॥

जिस प्रकार नदी में कुटिया है यहां नदी शब्द अपना प्रवाह अर्थ छोड़कर जहत् लक्षणा से तट अर्थ को कहता है वैसे वेदों में भी कर्मकाण्ड अपना अर्थ छोड़कर आप को बतलाता है ॥३६॥

तात्पर्यत इति। एतेन तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजमुक्तम्। वस्तुतस्तु स्वार्थंजहत्त्वादिमत्तात्पर्यं लक्षणायाः स्वरूपम्। शक्यतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रकारकबोधजनकत्वेच्छाविषयत्वं शक्यतावच्छेदकपर्याप्तप्रकारत्वानिरूपकबोधतात्पर्यविषयत्वं वेति यावत्। अत्र च शक्यतानवच्छेदकत्वान्तमुपलक्षणमात्रं तस्य कारणकोटिप्रवेशवैयर्थ्यात् ॥३५॥

नद्यामित्यादि। ननु विषमो दृष्टान्तः। तत्र प्रवाहार्थपरित्यागवद्

विरम्य वृत्तिर्न विभो पदानां
तथापि वाक्यस्य विचक्ष्महे ताम् ।
विधाय कर्म श्रुतयो जगुस्त्वां
भूतार्थवादो हि यथा प्रशस्तिम् ॥३७॥

यद्यपि पदों की विरम्य वृत्ति अर्थात् एक अर्थ बतला कर फिर दूसरे अर्थ का भी बोध कराना अभिमत नहीं है। तथापि वाक्य में विरम्य वृत्ति मानी जाती है। अतः भूतार्थवाद प्रशस्तिपरक होकर भी जैसे देवतास्तित्व में प्रमाण है वैसे कर्मकाण्ड भी कर्म विधान कर आप को कहते हैं ॥३७॥

वेदाः समे यत्पदमामनन्ती–

कर्मकाण्डेन स्वार्थपरित्यागे कर्मणां मीमांसासिद्धप्रामाणिकत्वानुपपत्तेः कर्मविलोपेन वेदार्थविप्लवापत्तेश्चेत्यत आह—विरम्येति। हरिरित्यादौ हनुमत्स्कन्धारूढो राम इत्याद्यर्थादर्शनान्न पदानां विरम्य वृत्तिः। तथापि वाक्यस्य साऽभ्युपेयते। देवताधिकरणे इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदित्यादिभूतार्थवादवाक्यानां प्राशस्त्यपरत्वेऽपि इन्द्रादिदेवतास्तित्वप्रामाण्योपगमाद्। विस्तरो वेदान्तमन्दारतर्वादौ। एतेन वाक्येऽपि लक्षणा भवतीत्यपि साधितम् ॥ ३७ ॥

ननु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानां ब्रह्मपरत्वं न केनापि मीमांसकेनोपगतमिति विरम्यवृत्त्या उक्तवाक्यानां ब्रह्मपरत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्कायां वेदेनैव तत्परतायाः स्वयमुक्ततया मीमांसकाऽस्वीकारोऽकिंचित्कर इत्याशयेनाह—वेदाः सम इति। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतिः।

त्येषा श्रुतिस्त्वत्परतां श्रुतीनाम् ।
वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः–
स्मृतिश्च विस्पष्टतया व्यनक्ति ॥३८॥

"समस्त वेद जिस परमात्मपद को कहते हैं" यह श्रुति वेदों को परमात्मपरक कहता है और समस्त वेदों का ज्ञेय मैं हूँ यह गीता स्मृति भी उसी बात का समर्थन करती है ॥३८॥

रक्ष्यतां दधि शुनादिह काक-
श्वादिकं सकलमप्यजहत्या ।
बुध्यते श्रुतिरजा सृजतीत्य-
प्यब्रवीदजमजासहितं त्वाम् ।३९।

"कुत्ते से दही बचाना" यहां कौआ कुत्ता आदि सभी अजहल्लक्षणा से बोधित होते हैं। अजा प्रकृति सर्जन करती है यहां भी अजहल्लक्षणा से प्रकृति युक्त पुरुष अर्थ बोधित होता है ॥३९॥

अन्यार्थत्वमस्याः श्रुतेः शङ्कमानं स्मृत्या प्रत्याचष्टे—वेदैश्चेति ॥ ३८ ॥

अजहल्लक्षणोदाहरणमाह—रक्ष्यतामिति । श्वेतो धावतीत्यादिकमपि लौकिकोदाहरणम् । अजमजःसहितमिति केवलस्यासङ्गत्वात्प्रकृतेश्च जडत्वेने-क्षणायोगादीक्षतेर्नाशब्दमितिन्यायादहजहल्लक्षणैवात्र ॥३९॥

सोऽयं पुमानितिवचः सकलं तदेत-
द्देशादिकं समपहाय विरुद्धभागम् ।
एकं पुमांसमवबोधयते तथैव
त्वामद्वितीयमयि तत्त्वमसीति वाक्यम् ।४०

यह वही पुरुष है इत्यादि वचन से विरुद्धांश तत्काल तद्देश और एतत्काल एतद्देशादि सभी छोड़कर भाग त्याग लक्षणा से एक पुरुष मात्र का बोध होता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से भी एक अद्वितीय परमात्मा का बोध होता है। (तत्पदार्थ ईश्वर और त्वंपदार्थ जीव के भेद का व्युदास ही महावाक्य का फल है अन्वय बोध नहीं) ॥४०॥

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोरेकार्थतात्पर्ययो-

भागत्यागापरपर्यायां जहदजहल्लक्षणामुदाहरति—सोऽमिति । विशिष्टान्वये विशेषणान्वयस्याप्यावश्यकत्वादुद्देश्यतावच्छेदकदेशकालावच्छेद्यत्वस्य विधेयान्वयित्वव्युत्पत्तेश्च न भागत्यागमन्तरा सोऽयमित्यादावन्वयसंभवः । विशिष्टशुद्धयोरप्यनैक्यान्नैकतरपदलक्षणयाप्युपपत्तिः सोऽयमित्यादौ तद्देशदृष्टैतद्देशदृश्यमानयोर्भेदव्युदासमात्रस्य तात्पर्यविषयत्वेन देशकालादिवैशिष्ट्यबोधायोगाच्च । एतेनान्वयबोधः फलमिति तार्किकमतं निरस्तम् । अतात्पर्यविषयान्वयबोधस्य प्रामाणिकैरभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । एवं तत्त्वमसीति वाक्येऽपि विरुद्धार्थपरित्यागेन शब्दाबोधे भेदव्युदासमात्रं तात्पर्यविषयत्वाद् भवतीति भावः ॥४०॥

रन्योन्यं खलु भेद्यभेदकविधा व्यावर्त्तनादर्थयोः।
भागत्यागिनि लक्ष्यलक्षकविधा शब्दार्थयोरित्यतः
सम्बन्धत्रयतो जगौ श्रुतिशिरोऽखण्डं भवन्तं हरे।

एक अर्थ में दो पदों का तात्पर्य होने पर सामानाधिकरण्य पदसम्बन्ध माना जाता है। अर्थ परस्पर व्यावर्तक होने पर विशेष्यविशेषणभाव अर्थसम्बन्ध होता है। भागार्थत्याग स्थल में लक्ष्यलक्षकभाव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है। इन तीन संबन्धों से श्रुतिशिर अर्थात् महावाक्य हे भगवन्! अखण्डस्वरूप आप का बोध कराता है॥ ४१॥

सर्वज्ञताशेषनियन्तृतादि-
योगी परस्तत्पदशब्दितस्त्वम्।
अल्पभ्रमः सृष्टमनुप्रविष्ट-
स्त्वमेव च त्वंपदबोधनीयः॥४२॥

सामानाधिकरण्यमिति। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। अयं च पदसम्बन्धः। परस्परव्यावर्त्तकत्वं विशेष्यविशेषणभावोऽर्थयोः सम्बन्धः। भागत्यागादर्थस्य पदेन लक्ष्यलक्षकभावः सम्बन्ध इति सम्बन्धत्रितयेनाखण्डार्थबोधो भवति॥४१॥

विशिष्टयोर्विशेष्यस्यैकत्वं भेदव्युदासकमिति वाक्यार्थविशिष्टघटकविशेष्यं निरूपयति—सर्वज्ञतेति। त्वं चैतन्यम्॥ ४२॥

सर्वज्ञत्व सर्वनियन्तृत्वादिविशिष्ट परमात्मा तत्पदार्थ है और अल्पज्ञ शरीरानुप्रविष्ट आत्मा ही त्वंपदार्थ भी है ॥ ४२ ॥

मायानिबन्धनमशेषनियन्तृताद्य-
मल्पज्ञताद्यमपहाय तथोभयस्मात् ।
जीवेश्वरैक्यमुपदर्श्य भवन्तमेवाऽ-
खण्डं प्रबोधयति तत्त्वमसिश्रुतिर्हि ॥४३॥

मायाप्रयुक्त सर्वनियन्तृत्व एवं अल्पज्ञत्वादि दोनों में से हटाकर जीव और ईश्वर की एकता दिखाते हुए अखण्ड आप ही को 'तत्त्वमसि' यह श्रुति प्रतिपादित करती है ॥ ४३ ॥

स्वतोऽपरोक्षे विषयेऽपरोक्षं
शब्दादपोष्टं दशमस्त्वमादौ ।

भागत्यामप्रकारमाह—मायेति । मायानिबन्धनत्वं त्याज्यत्वे हेतुः॥४३ प्रबोधयति साक्षात्कारयतीत्यर्थः । नन्वेतदनुपपन्नम् । शब्दादपरोक्ष-ज्ञानानुदयात् । यत्रापि प्रात्यक्षिको विषयस्तत्रान्वयबोधोत्तरं कारणान्त-रेणैव प्रत्यक्षमित्याशङ्कां निरस्यति—स्वत इति । दशमस्त्वमसीत्यादौ दशमत्वविशिष्टस्य प्रत्यक्षत्वात्पुरुषापराधकृतासंभावनादिमात्रं शब्देना-पोद्यते । सोऽयमित्यादौ च शब्देन भेदमात्रं व्युदस्यत इति तत्र तत्र शब्दतः प्रत्यक्षमेव फलतो भवति । एवं तत्त्वमसीत्यादावपि भेदव्युदासेन

वदन्तमेवाह सनत्कुमारं
पारेतमो दर्शयतीति वेदः ।४४।

विषय यदि स्वतः अपरोक्ष हो तो शब्द से भी अपरोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है। जैसे 'दशम तू है' इत्यादि में। इसी लिए उपदेश देते हुए सनत्कुमार को श्रुति ने साक्षात्कार कराते हुए कहा ॥ ४४ ॥

स्वयंप्रकाशः प्रतिभासमानोऽ-
प्यभातवन्मोहवशादभूत्तोऽभूत् ।
तत्प्रत्यभिज्ञानमिदं विदन्ति

शब्दतः साक्षात्कार एव भवति। एतेनेदमपास्तं यदुक्तं वेदान्तपरिभाषाकृता भागलक्षणां विनैव घटोऽनित्य इत्यादौ घटत्वस्य नित्यत्वेऽपि पदार्थैकदेशे घटेऽनित्यत्वान्वयवदत्रापि अभेदान्वयसंभव इति ॥ न ह्यन्वयमात्रेण कृतार्थता वाक्यस्य। किन्त्वखण्डचैतन्यसाक्षात्कारेणैव। भागाऽत्यागे सर्वज्ञत्वाद्यंशे परोक्षात्मकं चैतन्यांशेऽपरोक्षात्मकं ज्ञानमुदेतीत्युपगन्तव्यम्। न हीदृशज्ञानस्याज्ञाननाशकत्वम्। संसर्गासङ्गिसम्यग्धिय एव तथात्वोपगमात्। अन्यथाल्पज्ञत्वादिवैशिष्ट्येनात्मसाक्षात्कारस्याधुनापि विद्यमानत्वाद् वाक्यश्रवणवैयर्थ्यापत्तेः। अभेदसंसर्गाकारवृत्त्यन्तरमात्रस्याकिंचित्करत्वात्। शब्दादपरोक्षसाक्षात्कारो भवतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति—वदन्तमेवेति। एवकारेणान्यकारणसमवधाननिरासः। "तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार" इति वेदवचनम् ॥४४॥

तत्त्वमस्यादिजनितमखण्डबोधं केचित्प्रत्यभिज्ञानं वदन्ति भातस्य पश्चात् सोऽयमिति ज्ञानं हि प्रत्यभिज्ञानम्। स्वयंप्रकाशत्वादेव तु भातत्वमिति तेषामाशयः ॥ ४५ ॥

भातस्य भानाद्भवतः परात्मन् ॥४५॥

स्वयं प्रकाश होने से नित्यभासमान भी अविद्या के कारण अभात से हो गये। हे भगवन्! तत्त्वमसि आदि महावाक्य से होने वाला यह तत्त्वज्ञान भात का ही भान होने से आप का प्रत्यभिज्ञान माना गया है ॥४५॥

आकाङ्क्षन्ति मुमुक्षवोऽन्वयविधौ योग्यं समस्तेषु य-
त्तात्पर्येण सदातिसंनिधियुतं यन्मार्गयन्ते बुधाः।
यच्च श्रीमदनन्तशक्तिसहितं गच्छन्त्यमूढाः परं
तद्वन्दे पदमैशमौपनिषदं मानान्तरागोचरम् ॥४६॥

मुमुक्षु जिस की आकांक्षा रखते हैं जो सर्वत्र अन्वित

संनिधियोग्यतादीनामपि कथंचिच्छाब्दोपयोगित्वं संभावयतां मतमनिरस्यन्नेव भगवत्येव सर्वं समञ्जसयति आकाङ्क्षन्तीति। आकांक्षारूपस्य शाब्दबोधकारणस्यानेन सूचनम्। मोक्षस्य परमात्मरूपत्वाद्युक्तं मुमुक्षुभिस्तदाकांक्षणम्। अन्वयविधौ सत्सदित्येवमनुवृत्तिविधौ योग्यम्। एतेन योग्यतायाः सूचनम्। तात्पर्येण=तदेकपरतया। एतेन तात्पर्यसूचनम्। आत्मत्वादेवातसंनिधियुतम्। एतेन संनिधिसूचनम्। सदा मार्गयन्त इति सम्बन्धः। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यमित्यादेशात्। अनन्तशक्तिसहितमिति। एतेन शक्तिवृत्तिसूचनम्। यन्मार्गयन्त इत्यत्र यल्लक्षयन्त इति पाठान्तरे लक्षणासूचनमपि। गच्छन्तीत्यादि। गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तदिति भगवद्वचनमत्र स्मारितम्। पदं परमात्मपदम् अन्यत्र वाक्यघटकं पदम्। औपनिषदमिति। उपनिषन्मात्रवेद्यमुपनिषदन्तर्गततत्त्वमादिपदं च। मानान्तरागोचरं=प्रत्यक्षादिप्रमाण-

होने में योग्य है, अत्यन्त समीपस्थ है, विद्वान हमेशा जिसकी खोज करते हैं, जो श्रीयुक्त है अनन्तशक्ति सम्पन्न है, उपनिषद वेद्य है प्रमाणान्तराविषय है जिस को ज्ञानी प्राप्त होते हैं उस परम पद परमात्मा को हम वन्दना करते हैं ॥ ४६ ॥

पीनो दिवा नात्ति कथं तदेतद्
विनोपपद्येत निशासु भुक्तिम् ।
साध्यस्य सिद्धानुपत्तितोर्था-
पत्तिप्रमात्र स्फुरणं हरे त्वम् ।४७

यह आदमी मोटा है दिन में नहीं खाता । भला यह विना रात्रिभोजन कैसे उपपन्न हो । सिद्ध वस्तु की अनुपपत्ति से साध्य की अर्थापत्तिप्रमा होती है । हे भगवन् ! उसमें स्फुरण रूप आप हैं ॥४७॥

न्तरागोचरम् । परमिति विशेषणेन शब्दब्रह्मव्यावृत्तिः । अन्यत्र श्रौवपदानां परत्वं प्रसिद्धं बोध्यम् ॥४६॥

॥ इति शब्दप्रमाणनिरूपणम् ॥

इदानीमर्थापत्तिपमाणं वर्णयति—पीन इति । साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिहेतुत्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानात् कल्पयामीत्येवं सर्वानुभवसिद्धविलक्षणानुव्यवसायविषयोऽर्थापत्तिप्रमेति दीधितिकारादयः । वस्तुतस्तु सिद्धस्यानुपपत्तिरर्थापत्तिप्रमाणम् । अनुपपत्तिश्च नोपद्यते न भवितुं शक्यते इति व्याख्यानदर्शनाच्छक्तिविशेषाभावरूपा । तथा चास्तित्वज्ञानकालीना-

भ्रान्तिं जगत्या निगदन्ति बौद्धा
विना ह्यधिष्ठानमियं न युक्ता ।
भ्रान्तैरधिष्ठानविधाविधावी
भवान् कथं हन्त न तैरलोकि ।४८

शून्यावादी बौद्ध जगत् की भ्रान्ति मानते हैं। परन्तु विना अधिष्ठान भ्रान्ति संभव नहीं है। भ्रान्ति के अधिष्ठान स्वरूप आप स्वयं हैं। पर हे भगवन्! आश्चर्य है कि उन्होंने आप को कैसे नहीं देखा ॥४८॥

दृग्दृश्ययोर्नैव हि कश्चिदस्ति
संसर्ग आध्यासिकतोऽतिरिक्तः ।
दृश्यं ततः सर्वमिदं परात्म-

स्तित्वशक्त्यभावारोप एव साध्यज्ञानप्रयोजकः । अत एवास्याः प्रबल-प्रमाणत्वमुररीकृतमिति दिक् ॥४७॥

भ्रान्तिमित्यादिना सर्वाऽसत्यत्ववादिबौद्धमतं परास्य संप्रति सर्व-सत्यत्वादिनो वैशेषिकादीनपास्यति—दृगिति । न हि स्फुरणसंयोगाभ्यु-पगमेनापि घटादिकं स्फुरणरूपं भवितुमर्हति । न हि शिल्पिशतमपि घटं पट-यितुमीष्टे । अस्फुरणरूपतायां च न घटादयः स्फुरेयुः । न चाऽप्रकाशरूपा अपि घटादयः सूर्यादिप्रकाशसंयोगेन प्रकाशमाना भवन्तीति वाच्यम् । पक्षसमत्वात् । घटाद्याकारापन्नसूर्यादिप्रभाया एव घटाद्याकारेण प्रकाशमानत्वात् तस्मादेकश्चन्द्रः सद्वितीय इतिवदध्यस्तमेव स्फुरणस्वरूपे जगदिदमित्येव युक्तम् । न च स्फुरणायामाकाराधायकतयैव घटादेः सत्त्वम् ।

न्यध्यस्तमेव त्वयि दृक्स्वरूते ॥४६॥

दृक् और दृश्य का आध्यासिक से अन्य सम्बन्ध संभव नहीं है। अतः यह सारा दृश्य दृक्स्वरूप आप परमात्मा में ही अध्यस्त सिद्ध होता है ॥४६॥

दृष्टार्थतो यद्वदिदं मृषैव
श्रुतार्थतोऽपीश तथैव विश्वम्।
त्वामद्वितीयं प्रतिपादयन्ती
श्रुतिः प्रभो व्याकुपितान्यथा स्यात् ॥५०॥

दृष्टार्थापत्ति से यह विश्व जैसे मिथ्या है वैसे श्रुतार्थापत्ति से भी मिथ्या है। अन्यथा अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादक श्रुत अनुपपन्न होगी ॥५०॥

आपद्यते यः श्रुतदृष्टरूपा-
दर्थादशेषावधिरद्वयोऽर्थात्।
सर्वार्थदं श्रीलमनापदं श्री-

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियामित्युक्तेरिति वाच्यम्। कल्पितसर्पादिनापि स्फुरणायामाकारदर्शनात् परमार्थसत्त्वादिद्धेः ॥ ४९ ॥

दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरिति द्वैविध्यमर्थापत्तेः। श्रुतार्थापत्तिरप्यभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च। त्वामित्याद्यभिहितानुपपत्तिः ॥ ५० ॥

अर्थापत्तिमुपसंहरन् भगवन्तं स्तवीति—आपद्यत इति। श्रुतदृष्टरूपादर्थात् पदार्थादशेषावधिर्योऽर्थादापद्यतेऽर्थापत्तिप्रमाणतः प्रति-

नारायणं तं शरणं प्रपद्ये ॥५१॥

जो श्रुत एवं दृष्ट अर्थ की अनुपपत्ति से अर्थात् सिद्ध होता है। जो सर्वविधि है, सकालार्थप्रदाता है श्रीयुक्त तथा आपत् रहित है उस श्रीनारायण की हम शरणागत हैं ॥ ५१ ॥

घटाद्यभावे प्रतियोगियोग्या-
ग्रहात्मकाद् यानुपलब्धिसंज्ञात्।
प्रमा प्रमाणादुपजायतेऽस्यां
भवन्तमेव प्रमीमे स्फुरन्तम् ॥ ५२ ॥

प्रतियोगी का योग्य ग्रहण न होना अनुपलब्धि प्रमाण है उस से घटादि के अभाव की प्रमा होती है उसमें स्फुरण स्वरूप आप ही हैं ॥५२॥

पद्यत इत्यन्वयः। अर्थादापद्यते सर्वार्थदश्चेति चित्रम्। आपद्यत इति अनापदमिति च विरोधाभासः ॥ ५१ ॥

॥ अर्थापत्तिप्रकरणम् ॥

इदानीमनुपलब्धिप्रमाणं निरूपयति—घटेति। प्रतियोगिनो यो योग्याग्रहस्तद्रूपात् अत्र यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवंविधात्। तथा च परमाणौ गुरुत्वाद्यभावाप्रत्यक्षादनुयोगिनो योग्यत्वप्रवेशे वायौ रूपाभावस्य, प्रतियोगिनो योग्यत्वप्रवेशे स्तम्भे पिशाचभेदस्यानुभवो न स्यादित्यादिशङ्कानां नावसरः। ग्रहे योग्यत्वप्रवेशात् ॥ ५२ ॥

समाधिकालेऽनुपलभ्य सन्तो
दृश्यं विनिश्चित्य मृषैव विश्वम् ।
सदद्वितीयं श्रुतिबोधितं त्वां
सम्पद्य भूमन्नभया भवन्ति ॥५३॥

सन्त लोग समाधि काल में जगत् न पाकर मिथ्या निश्चय करते हैं और श्रुत्युक्त अद्वितीय आप से एकीभूत होकर अभय प्राप्त करते हैं ॥५३॥

कालत्रयाबाधितरूपतोऽमुं
प्रपञ्चमप्रेक्ष्य विचक्षणा यम् ।
तुच्छं परिच्छिन्नवपुर्निषिध्य

समाधिकाल इति । इदमुपलक्षणम् । स्वप्ने जाग्रन्नोपलभ्यते जाग्रति च न स्वप्नो, नोभयं सुषुप्तौ । यदि चेमे पदार्थाः स्वयंप्रकाशाः स्युः सर्वदोपलभ्येरन्नहमर्थवत् । तस्माज्जडरूपा एते दृशि कल्पिताः पूर्वोक्तदिशा एकश्चन्द्रः सद्वितीय इवेति मिथ्यात्वं जगतः सिद्ध्यति । इत्थमनुपलब्धिप्रमाणेन मिथ्यात्वं निश्चिन्वतां महच्च फलं द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतेर्भयकारणद्वितीयाभावादभयप्राप्तिरित्याह—सदद्वितीयमिति ॥ ५३ ॥

अनुपलब्धिमुपसंहरन् भगवन्तं स्तौति—कालेति । अप्रेक्ष्येति श्रुत्यादाविति शेषः । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिवज्जगतः सत्यत्वस्य श्रुत्यादावदर्शनात् । न च विश्वं सत्यं मघवन्निति सत्यत्वं दृश्यते श्रुताविति वाच्यम् । सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमित्यादिश्रुतौ राजराजः मन्मथमन्मथ इत्यादौ प्रथमराजादिपदस्यापेक्षिकराजत्वादिबोधकत्व-

पश्यन्ति विष्णुं मुपास्महे तम् ॥५४॥

कालत्रयाऽबाधित रूप से इस प्रपञ्च को न पाकर बुद्धिमान् परिच्छिन्न होने से तुच्छ इस जगत् का निषेध कर जिस सत्य का दर्शन करते हैं उस विष्णु की हम उपासना करते हैं ॥५४॥

प्रामाण्यं न हि परतो भवेन्न बुध्येत

सन्देहाद्यननुभवाद्वास्थितेश्च ।

दोषोत्थेऽसति परतोऽप्रमाणता स्यात्

वदापेक्षिकसत्यत्वस्यैव कीर्त्तनात् । तथा च ,कालत्रयाबाध्यत्वलक्षणसत्यत्वस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वाद् बाधकविरहाद् श्रुत्यादौ च त.दृशं जगत्सत्यत्वमनुपलभ्य मिथ्यात्वमेव जगतो निश्चीयत इति भावः ॥ ५४ ॥

॥ अनुपलब्धिनिरूपणम् ॥

उक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं गुणप्रयुक्तं सफलप्रवृत्त्याद्यनुमेयं चेति तार्किकमतं निरस्यति—प्रामाण्यमिति । प्रमात्वमित्यर्थः । न बुध्येत् न परतो बुध्येत् । सन्देहाद्यननुभवादिति । न च प्रथमजलदर्शिन इदं जलज्ञानं प्रमा न वेति संशयो दृश्यत एव । पिपासाशमनसफलप्रवृत्त्या च प्रमाण्यं निश्चीयत इति वाच्यम् । प्रामाण्यसंशयस्य विषयसंशयनियततया इदमस्ति न वा इदमीदृशमनीदृशं वेत्यादिसंशयप्रसङ्गात् । वस्तुतः पिपासाशमनं जलमिति वृद्धवचनादिकं श्रुतवत इदं जलपदवाच्यं न वेत्येवं जलपदवाच्यत्वस्य तद्वति तादृशवाच्यत्वप्रकारकत्वादिलक्षणप्रामाण्यस्य च संशयस्तत्रोदेति । न च जलपदवाच्यत्वं चक्षुरादिग्रहणायोग्यं, येन तत्प्रामाण्यमपि तदा गृह्येत । सफलप्रवृत्तावपि प्रामाण्यसंशयादनवस्थादोषमभ्युच्चिनोति—अवस्थितेश्चेति । अनवस्थित्यदर्शनादित्यर्थः । तथा

स्वाभाव्यं भव भवतः स्वतः प्रमाणे ।५५।

प्रामाण्य न तो परतः उत्पन्न होता है और न परतः ज्ञात ही होता है। क्योंकि ज्ञानोत्तर प्रामाण्यसंशय या विषयसंशयादि देखने में नहीं आता और अनवस्था भी नहीं होती। हाँ, दोषजन्य असद्वस्तु के विषय में अप्रामाण्य तो परतः उत्पन्न तथा ज्ञात होता है। प्रामाण्य तो स्वभाव से ही स्वतः उत्पन्न एवं ज्ञात होता है ॥५५॥

चाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्वेन कारणत्वप्रतिबन्धकत्वादिकल्पनायां गौरवा-त्प्रामाण्यविषयकत्वेन लघुधर्मेण तत्कल्पनालाघवेन स्वतोग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य सिद्ध्यति। दोषविशेषास्तु प्रामाण्यग्रहविरोधिनः। तेन यत्राप्रामाण्य-ग्रहस्तत्र दोषविशेषसद्भावात्प्रामाण्याग्रहादेव न प्रवृत्तिः। अप्रामाण्यविषय-काऽप्रामाण्यग्रहे दोषविशेषपरिहारात् प्रामाण्यग्रहात् प्रवृत्तिरिति तार्किका-दिमतवन्नाननुगमोऽपि। भ्रमस्थले तु गुणविशेषाः प्रामाण्यग्रहविरोधिनः। तत्राप्रामाण्यज्ञानधर्मिकाऽप्रामाण्यग्रहे गुणविशेषविरहात्पुनः प्रामाण्यज्ञानं भवतीति प्रवृत्त्युपपत्तिरित्यपि बोध्यम्। ज्ञानोद्भावकसामग्र्यतिरिक्तस्य गुणस्य गगनकुसुमोपमत्वादुत्पत्तौ परतस्त्वं दूरनिरस्तमेव। अप्रामाण्यं तु दोषेण जन्यते विफलप्रवृत्त्यादिना चानुमीयते इति युक्तं तस्य परतस्त्वम्। वस्तु-गत्याऽप्रमास्थलेऽपि रज्जुसर्पादौ स्वाप्नसिंहादौ च सत्यत्वप्रामाण्यादिबुध्यैव भयसंप्रधावनादिकमिति ध्येयम्। ननु कथं स्वतः प्रमाणं गृह्यत इत्यत आह—स्वाभाव्यमिति। चैतन्यस्याबाधिततया तत्तादात्म्यापन्नमपि स्वभावतोऽबाधिततयैव गृह्यत इति भावः। भवत्यस्माज्जगदिति वा स्वयं भवतीति वा भवस्तत्संबुद्धौ हे भव ॥५५॥

॥ इति स्वतः प्रामाण्यनिरूपणम् ॥

प्रमास्विव त्वं स्फुरसि भ्रमेष्वपि
स्फुटा समाना स्फुरणोभयत्र च ।
दृश्येव सर्वं परिकल्पितं जगद्
घटादि वा रज्जुभुजङ्गमादि वा ॥५६॥

हे भगवन् ! आप प्रमा के समान भ्रम में भी स्फुरित होते हैं। दोनों में स्फुरणा बराबर ही है। क्योंकि उस दृक् में ही घटादि तथा रज्जुसर्पादि कल्पित हैं ॥५६।

सामान्यमात्रमिदमंशमवेद्य रज्जु-
भागं विशेषमनवेद्य च दोषहेतोः ।
सर्पाशयो भ्रमति सर्प इतीह रज्जू-

प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं च परत इत्युक्तं, तत्र किमिदमप्रामाण्यमिति तन्निरूपणमपि प्राप्तम्। जडानां प्रमेयानां वस्तुतो मिथ्यात्वाच्चेतनविभागप्रयोजकोपाधीनामपि तथात्वादद्वैतज्ञानोपयोगितन्मिथ्यात्वावगमोपयोगितया चाप्रमा निरूपणीया। ब्रह्मणः प्रतिबोधविदितत्वेन तत्प्रसङ्गेन प्रमावद्भ्रमनिरूपणमौचितीमर्हतीति भ्रमापरपर्यायामप्रमां निरूपयति—प्रमास्विवेति। सर्वत्र स्फुरणासामान्यं समर्थयति—दृशीति ॥५६॥

सामान्येति। सामान्यांशदर्शनं विशेषादर्शनं दोषविशेषश्चेति कारणत्रयं भ्रमसामान्ये। भ्रमविशेषे संस्कारस्यापि कारणत्वमित्याशयेन कर्तृविशेषणतया पठति—सर्पाशय इति। यत्तु पूर्वं क्वचिद् दृष्टसत्यसर्पस्यैव तत्संस्कारेण रज्जौ मिथ्यासर्पभ्रम इति मिथ्याजगद्दर्शनमुररीकुर्वतापि पूर्वं कुत्रापि सत्यजगदङ्गीकरणीयमिति। तत्तुच्छम्। संस्कारत्वमात्रेण लघु-

पाधेस्तवैव भगवन्नुरगो विवर्त्तः ॥५७॥

सामान्य इदमंश को देखकर विशेष रज्जु अंश को न देखता हुआ सर्पसंस्कार वाला पुरुष दोष के कारण

धर्मेण कारणत्वसंभवे सत्यवस्तुदर्शनजन्यसंस्कारत्वेन कारणतायां मानाभावात्। अनादिमिथ्यासंसारपरम्परादर्शनोत्थसंस्कारेणैवोपपत्तेः। किं चादृष्टचरकुञ्जरस्यापि हस्तिपर्वतादौ (अयं पर्वतः हस्त्याकारेण दूरतो विलोक्यते इति लोकैर्हस्तिपर्वत इत्युच्यते) हस्त्याकारदर्शनमपलपितुमशक्यम्। न च तत्र सन्ततविनिःसरन्तीनां छायानां मध्येमार्गं परस्परसंयोगादेव हस्त्याकारो जायत इति सत्य एवाकारोऽवलोक्यते। छायाचित्रादावपि हस्त्याकारावलोकनात्। न हि कर्गलस्याचेतनस्य भ्रान्तिः शक्यसंभावनेति वाच्यम्। दूरदर्शिपारदर्श्यादिकाचविशेषसमवाधानकालेऽपि हस्त्याद्याकारदर्शनप्रसङ्गात्। वास्तविकहस्त्याकारस्य त्वन्मते मध्येमार्गं सम्पन्नत्वात्। अस्माभिर्दृश्यमानदौर्यादेरपि कर्गलेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्सुतरामस्मदृष्टदौर्यादेरिति यावद्गृहीतेनास्माकमेव कर्गले हस्त्याद्याकारविभ्रमः। बुद्धिर्गृह्णाति विषयच्छायामिति वार्त्तिकमतेन छायारूपे गतिस्वीकारेऽपि रूपाणां परस्परसंयोगो न भवत्येव। तथा च नैयायिका अप्याहुर्द्रव्ययोरेव संयोगो न तु रूपादेरिति। अद्यावधि केनाप्यदृष्टस्य भूतविशेषस्य (भाषायां 'हाऊआ' इति प्रसिद्धस्य) सर्वथा मिथ्याभूतस्यान्धकारादौ शतशः सहस्रशश्च बालैर्दृश्यमानस्य तदीयभयकम्पादिनिदानभूतस्य यथार्थभूतविशेषपूर्वकत्वासंभव इत्यादिकं शतश उदाहरणं ग्रन्थविस्तारमात्रप्रयोजकमित्युपरम्यते। तथा च संस्कारविशेषस्य भ्रमविशेषे एव हेतुत्वम्। चाक्षुषापटुत्वादिकं हस्त्याद्याकारदर्शनादौ दोषः। संसारोत्पत्तौ चाविद्यैवान्ततो दोष इति ध्येयम्। अयं सर्प इत्यत्र भ्रमे इदमंशः सामान्यं रज्ज्वंशो विशेषः। मन्दान्धकारादिर्दोषः सर्पसंस्कारश्चेति। तत्र सर्पो न रज्जोरेव विवर्त्तः किन्तु रज्जूपहितचैतन्यस्य। अविद्यायास्तु परिणामः ॥५७॥

'यह सर्प है' ऐसा भ्रमित होता है। यहां सर्प रज्जूसहित चैतन्य का विवर्त्त होता है ॥५७॥

आरोपितार्थोद्भवमभ्युपायन्

भ्रमेऽपरोक्षे ह्यपरोक्षतायै।

तादात्म्यमात्रस्य जनिं परोक्षे

आरोपसमुत्पन्नार्थो विवर्त्त इत्युच्यते। नन्विदं रजतमित्यादौ हट्टस्थरजतस्यैवान्यथाख्यातिः कुतो नेत्यत आह—अपरोक्षताया इति। रजतं साक्षात्करोमीति प्रतीतिर्नहट्टस्थरजतेन संभवति। न च रजतत्वप्रकारकशुक्तिविशेष्यकोऽयं प्रत्ययः। इदमर्थगतापरोक्षत्वस्य अन्यथख्यात्यैव रजतत्वांशेऽप्यारोपान्नोक्तसाक्षात्कारानुभवानुपपत्तिः। अन्यथा भवन्मतेऽपि कल्पितरजतस्य पुरोवर्त्तित्वेऽपि तेन सहेन्द्रियसंनिकर्षानभ्युपगमाच्चाक्षुषत्वाद्यनुभवो दुरुपपाद एव स्यादिति वाच्यम्। प्रकारविषयैव संसर्गविधयाप्यसतो भानानुपगमात्तथा सति प्रकारविधयापि तद्भानोपगमेऽपराधविरहेण बौद्धमतप्रवेशापत्तेः, रजतत्वेदमर्थयोर्वस्तुतो वैशिष्ट्यविरहेण भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वानुयोगित्वलक्षणप्रकारत्वविशेष्यत्वानुभवापलापापत्तेरनिर्वचनीयोत्पत्त्यावश्यकत्वात्। इदं रजतमिदं रजतं पश्यमीत्येवमभिलापात् प्रत्ययस्याभिलप्यमानार्थविषयकत्वध्रौव्यान्नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेरिदयर्थरजतयोस्तादात्म्यस्यापह्नोतुमशक्यत्वाच्च। न चैवमपि रजततादात्म्यरजतत्वसंसर्गयोरेवानिर्वचनीययोरुत्पत्तिरुपेयतां, किं रजतोत्पत्त्युपगमेन, हट्टस्थरजत एवेदमर्थापरोक्षतारोपसंभवादिति वाच्यम्। भिन्नदेशीययोस्तादात्म्यायोगाद् जलनिधिसंनिधिगतः पुरतः स्थितां शुक्तिमविचिन्वन्नेव रजतमिदमिति प्रतियन्नद्यपर्यन्तं यावद्रजतमहमवालोकिषि ततो भिन्नमेवेदमुदधिसविधगतमित्येवं स्फुटं हट्टादिरजतभेदावगमादित्येषा दिक्। तादात्म्येति। यत्र धूलीपटले धूमभ्रमेण पर्वतादौ वह्निभ्रमस्तत्र वह्नेरप्रत्यक्षत्वात्स्मिन्नयमावह्नेरपि

त्वयि प्रभोऽसत्स्फुरणानुपायात् ॥५८॥

आरोपित अर्थ की उत्पत्ति मानी गयी है। क्योंकि अपरोक्ष भ्रम की अपरोक्षता अन्यथा उपपन्न नहीं है। हाँ परोक्ष स्थल में तो तादात्म्यादि संसर्ग मात्र की उत्पत्ति होती है। वह भी इसलिये मानते हैं कि असत् का स्फुरण नहीं माना गया है ॥५८॥

तामस्यविद्या परिणाममेति

भासंभवात्संसर्गमात्रमुत्पद्यते। न च पर्वतीयेतरवह्न्यभाववान् पर्वत इत्येवमितरबाधसमवधानकाले व्यापकतानवच्छेदकेनापि पर्वतीयवह्नित्वेन वह्न्यनुमित्युपगमात् स्रियमाणवह्नेस्तद्विषयत्वासंभवात्तत्रापि प्रातिभासिकवह्न्युत्पत्तिरुपगन्तव्यः, साक्षिगताज्ञानस्य च स परिणाम इति वाच्यम्। पर्वतीयवह्नित्वादिरूपेण स्रियमाणवह्नेरेव भाने विरोधाभावात्। पर्वतीयत्वस्य स्रियमाणवह्नौ संसर्गस्तद्वह्नेश्च पर्वते संसर्ग उत्पद्यतां का क्षतिः। न चैवं हट्टस्थितरजत एव पुरोवर्त्तित्वप्रत्यक्षत्वहट्टरजतेतरत्वादेः संसर्गोत्पत्तिरस्तु किं रजतस्याप्युत्पत्त्यभ्युपगमेनेति वाच्यम्। संसर्गिसाक्षात्कारं विना संसर्गसाक्षात्कारायोगात् रजततादात्म्यपुरोवर्त्तित्वसम्बन्धादिसाक्षात्कारस्यापलपितुमशक्यत्वात्। न हि संसर्गे संसर्गान्तरप्रतीतिरुपगम्यतेऽनवस्थापातात्। येन रजततादात्म्यादौ प्रत्यक्षत्वादिसंसर्गारोपः शक्यकल्पनः स्यात्। अस्मन्मते तु स्वीक्रियमाणाया रजताद्याकाराज्ञानवृत्तेरिन्द्रियाद्यजन्यत्वेऽपि धर्मिग्राहकमानेन प्रत्यक्षत्वेनैव गृह्यमाणत्वात् सुप्तोत्थिताज्ञानसुखादिस्मरणान्यथानुपपत्तिसिद्धसुखाद्याकाराज्ञानवृत्तेः प्रत्यक्षत्वक्लृप्तेश्च न रजतादिसाक्षात्कारानुपपत्तिरिति सर्वं चतुरस्रम् ॥५८॥

चैतन्यस्य विवर्त्तो रज्जुसर्पादिरज्ञानस्य च परिणामः। तत्राज्ञानमेव विषयात्मना ज्ञानात्मना च परिणमत इति तदेव विभज्य दर्शयति-ताम-

सर्पात्मना काचन रज्जुगोचरा ।
साऽत्त्विक्यविद्या परिणाममेति
ज्ञानात्मना च त्वयि साक्षिणि स्थिता ॥

रज्जु विषयक तामसी अविद्या सर्परूप से परिणत होती है और साक्षी स्थित सात्त्विक अविद्या सर्पज्ञान रूप से परिणत होती है ॥५६॥

समानसत्ताकजनिर्विकारोऽ-
समानसत्ताकजनिर्विवर्त्तः ।
सतत्त्वतोऽज्ञानमतत्त्वतस्त्व-

सीनि । रज्जुगोचरा=रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यगोचरा । उक्तं च दृश्येव सर्वं परिकल्पितमिति । इदमवच्छिन्नचैतन्याश्रितेत्यपि द्रष्टव्यम् । वक्ष्यति च—यथाधार आशीविषस्येदमंश इति । तत्राशीविषस्येत्यनेन तत्कारणाविद्याया अपि लाभः । इत्थं चायं सर्प इति पुरोवर्तित्वेन ज्ञानमुपपन्नं भवति । सात्त्विकीति । त्वयि साक्षिणि=साक्षिरूपे त्वयि । इत्थं चाहं सर्पं जानामीत्येवमहमर्थाश्रयतया ज्ञानानुभवोऽपि घटते । इदमर्थाश्रयाविद्यापरिणामत्वे इदं जानातीति स्यान्नत्वहं जानामीति ।५६॥

समानेति । ननु रज्जुसर्पस्याविद्यापरिणामत्वाद् व्यावहारिकत्वापत्तिः । न चाविद्या प्रतिभासिकी । तथा सति नात्र सर्प आसीदस्ति वेतिवन्नाविद्याऽऽसीदस्ति वेति बाधापत्तेः । न हि तथाबाधः, आसीदेव ममाविद्येति सर्वानुभवादित्यतो योजनां प्रकारान्तरेण करोति—सतत्त्वत इति । तथा चाविद्यायां संस्कारादिरूपेण वर्त्तमानमेव रज्जुसर्पादिराविर्भव-

न्यथाप्रथां त्वं च विभर्षि तत्र ॥६०॥

कारण और कार्य की समान सत्ता हो तो विकार या परिणाम कहा जाता है। कार्य सत्ता असमान (न्यून) हो तो विवर्त्त कहा जाता है। तत्वसहित होने पर परिणाम अर तत्त्व रहित होने पर विवर्त्त ऐसा इसका निष्कर्ष करते हैं ॥६०॥

भवानुपादानमजाखिलस्य
द्वारं त्वविद्या श्रुतिकल्पनीया।
इत्यभ्युपागाद् यतिवृन्दवन्द्यः
संक्षेपशारीरककृन्मुनीन्द्रः ॥६१॥

हे अज! आप ही जगत् का उपादान कारण हैं अविद्या केवल द्वार है। श्रुति की अन्यथानुपपत्ति से

तीति परिमाणमत्वम्। चेतने तु संस्कारादिरूपेणापि न रज्जुसर्पादिरिदं जगद्वेति वद्विवर्त्तत्वमिति भावः ॥६०॥

संस्काररूपेण रज्जुसर्पस्य पूर्वं वर्त्तमानत्वे पुनर्व्यावहारिकत्वापत्ति-र्दुर्वारा। संस्कारस्य व्यावहारिकत्वात्। संस्कारेण निमित्तेन जायमानः सर्पोऽपरश्चेन्न स पूर्वमविद्यायामिति सतत्त्वत्वं दुर्निर्वचमित्यतः संक्षेपशा-रीरककारमतमाह—भवानिति। यतो वेत्यादि श्रुतेः। द्वारमिति। न तु परिणाम्युपादनम्। कल्पनीयेति। निर्विकारत्वाद् ब्रह्मण इति भावः। एतदभिप्रायेणैवाजेति सम्बोधनम्। तर्हि किं परिणामिकारणमिति चेद्? न किंचिदपि। अत्र मते स्वीयामास्थां दर्शयति—यतिवृन्दवन्द्य इति।६१।

उस की कल्पना की जाती है। यह संक्षेपशारीरककार का मत है ॥ ६१ ॥

साक्षात् क्व च क्व च परम्परयाऽपरोक्षे
प्रात्यक्षिको भवति वस्तुनि विभ्रमोऽयम् ।
साक्षात्तु साक्षिणि परम्परयेदमादौ
स्वाप्नो गजादिरुत रज्जुभुजङ्गमादिः ।६२।

कहीं साक्षात् एवं कहीं परम्परया प्रत्यक्ष वस्तु में ही अपरोक्ष भ्रम होता है। साक्षात् प्रत्यक्ष साक्षी में स्वप्नगजादि एवं परम्परया प्रत्यक्ष इदम् आदि में रज्जु सर्पादि का भ्रम होता है ॥ ६२ ॥

सन्देहे जगुरसदर्थकोटिवृत्तिं
त्वय्येव प्रभव भवस्य पूर्वरीत्या ।

तत्र प्रात्यक्षिकभ्रमे प्रात्यक्षिकमाधारज्ञानमपेक्षितं, प्रात्यक्षिकत्वं साक्षाद्वा परम्परया वेत्यत्रानाग्रह इत्याशयेनाह—साक्षादिति। परम्परया=वृत्तिपरम्परया। न चैवमप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिन-ताद्यध्यस्यन्तीति भाष्यविरोधः। तत्राप्रत्यक्षपदेनाक्षिशब्दार्थेन्द्रियाविषय-त्वस्यैवोक्तेः। साक्षिप्रत्यक्षं हि गगनमिति पञ्चपादिकायामुपपादितम्। अत एव न चायमेकान्ततोऽविषय इत्यादिनाऽऽत्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वमग्रे साधितमिति भावः ॥ ६२ ॥

सन्देह इति। भ्रान्तिविशेषेऽसत्यार्थकोटिमात्रजन्म स्वीकर्त्तव्यम्। तावतैव बाधितार्थत्वेन विभ्रमता घटते। न हि सर्वार्थबाधनियमः।

यत्प्रोचे किल विचिकित्सनं मनस्तत्
तद्बीजप्रकृतिकमित्युपेत्य वेदः ॥६३॥

हे जगदीश्वर! संशय में पूर्वोक्तरीति आप में ही असदर्थ कोटि की ज्ञानाकार तथा अर्थाकार अज्ञानवृत्ति होती है। श्रुति में जो संशय को मनोवृत्ति बताया वह मन के कारण अज्ञान की विकृति होने से उपपन्न है ॥ ६३ ॥

रज्जौ यथा सर्प उदेत्यविद्यया
तथा जगत्त्वय्युदयत्यविद्यया।
प्रबाध्यते सर्पवदेव विश्वं

इदमर्थस्याबाधात्। न च "इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवत्त्विदमि। रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिवेत्येवं संक्षेपशारीरककारैरनारोपितस्य भ्रमे स्फुरणानुपगमादन्यकोटिजन्मापि मन्तव्यमिति वाच्यम्। इदमर्थस्य स्वरूपेण कल्पितत्वानुपपत्ते रजततादात्म्यानुयोगित्वेनैव तथात्वस्योपगतव्यत्वात्सन्देहस्थलेऽपि रजतं न वेत्यादौ रजततादात्म्यानुयोगितावच्छेदकावच्छिन्नानुयोगिताकतादात्म्यप्रतियोगित्वेन कोट्यन्तरस्यापि तथात्वोपगमे क्षतिविरहात्। नन्वेवं कामः संकल्पो विचिकित्सेत्याद्युपक्रम्यैतत्सर्वं मन एवेति सन्देहादेर्मनःपरिणामतां दर्शयन्ती श्रुतिर्विरुध्येत भवन्मते तस्याज्ञानपरिणामत्वादित्यत आह—यत्प्रोच इति। तस्य मनसो बीजमज्ञानं तत्प्रकृतिविकृत्वाद्। अन्यथा स्मरणानुपपत्तेः ॥६३॥

भ्रमनिरूपणं जगन्मिथ्यात्वसाधनौपयिकतया समर्थयन्नाब्रह्मज्ञानाबाधितत्वलक्षणव्यावहारिकत्वमात्रेण जगतोऽपि प्रमात्वव्यपदेशमप्युपपादयति रज्जाविति ॥६४॥

प्रमेति नाम व्यवहारमात्रम् ॥६४॥

जिस प्रकार अविद्या से रज्जु में सर्प का उदय होता है। तथा परमात्मा में भी जगत् का उदय होता है। सर्प के समान विश्व भी बाधित होता है। विश्व में प्रमा का व्यवहारमात्र है (वास्तविक प्रमात्व नहीं है) ॥६४॥

तवैव विष्णो परमार्थसत्ता
जाग्रत्प्रपञ्चे व्यवहारसत्ता।
स्वाप्नादिकेऽर्थे प्रतिभाससत्ता
भेदं परे प्राहुरुपाधिहेतोः ॥६५॥

हे विष्णो! परमार्थ सत्ता तो आप की ही है। जगत् प्रपञ्च में केवल व्यवहार सत्ता और स्वाप्न पदार्थ रज्जु सर्पादि में प्रतिभाससत्ता ही है। उपाधि भेद से ही ये तीन विभाग हैं वस्तुतः सत्ता एक ही है ऐसा मानते हैं ॥६५॥

फलितमाह—तवैवेति। नन्वेवं जगतो मिथ्यात्वे मरुमरीचिकाजलवदन्यजलेनापि पिपासोपशमो न स्यादित्यत आह—जाग्रदिति। स्वप्नादीत्यादिना रज्जुसर्पादेरग्रे ग्राह्यत्वात्तदतिरिक्तत्वमत्र विवक्षितम्। सत्तात्रयमिति केषांचिदाचार्याणां मतम्। परे त्वाचार्या मायामयोपाधित्वाज्जाग्रत्प्रपञ्चे परमात्मन एव सत्ता व्यावहारिकतां स्वाप्नादिप्रपञ्चेऽविद्यामयत्वात् प्रातिभासिकतां च प्रतिपद्यत इत्याहुस्तदाह—भेदमिति। विस्तरोऽन्यत्र ॥ ६५ ॥

इदं जगद्रज्जुभुजङ्गविभ्रमं
स्वसंप्रतिष्ठः खलु योऽधितिष्ठति ।
तमस्तिभातिप्रियरूपभाविनं
विनम्रभावं पुरुषोत्तमं स्तुमः ॥६६॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य (स्वामी काशिकानन्द) विरचिते
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलौ द्वितीयः स्तबकः ॥

रज्जुसर्पसदृश इस जगत् को जिस स्वप्रतिष्ठपरमेश्वरने अधिष्ठित किया है उस अस्ति भाति प्रियरूप से सर्वत्र वर्तमान पुरुषोत्तम भगवान् की हम विनम्रभाव से स्तुति करते हैं ॥ ६६ ॥

(द्वितीयस्तबक का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ)

प्रकरणार्थं स्तबकार्थं च सप्रयोजनं संक्षिप्य भगवन्तं स्तौविदिदमिति ॥
इति भ्रमनिरूपणम् ।
इति द्वितीयस्तबकसौरभम् ।



श्री जयमङ्गलाचार्य (स्वामीकाशिकानन्द) विरचिते

वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलौ

तृतीयः स्तवकः

प्रमाऽप्रमाभ्यां विदिता परा चित्
त्वमेव सर्वात्मकदृक्स्वरूपः ।
ब्रह्मेशजीवा मितिमातृमान-
मेयास्तवोपाधिवशात् प्रभेदाः ॥१॥

प्रमा और अप्रमा से विदित चित् उपाधित्याग होने पर पराचित् सर्वात्मक आप ही हैं। ब्रह्म ईश जीव, प्रमा, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये चैतन्य उपधि के कारण आप ही के भेद हैं ॥ १ ॥

सौरमम्

अथेदानीं चिज्जडभेदभिन्नं प्रमेयं निरूपयति प्रमेति । प्रविद्योघवेद्यायां दित्येवावरणकार्यम् । तदपसरणेन सर्वैर्ज्ञायमानापि न सा परा किन्तु सोपाधिकैव । उपाधिपरित्यागे तु सा परैव, तदर्थमेव च सर्वे वेदान्ताः प्रवृत्ताः । तदाह—त्वमेवेति । ब्रह्मेत्यादयः सप्त चैतन्यभेदाः ॥१॥

उपाध्यभावं समपेक्ष्य शुद्धं
ब्रह्मेति वेदेष्वभिधीयसे त्वम् ।
वाचामतीतं मनसोऽपि पद्यां
न शक्नुयाच्छब्दचयोऽभिधातुम् ॥२॥

उपाध्यभाव को लेकर वेदों में आप शुद्ध ब्रह्म कहे जाते हैं। जो वाणी और मन के मार्ग से परे है उस को शब्द कह नहीं सकता ॥ २ ॥

मायायुतं त्वां जगुरीशमीशाऽ-
विद्यायुतं जीवमपि त्रिभेदम् ।
ईशं च सूत्रं च विराजमाद्यं
प्राज्ञं परं तैजसमेव विश्वम् ॥ ३ ॥

ननु निरुपाधिकं चैतन्यं ब्रह्म कथमुपाधिप्रयुक्तभेदसमकान्तर्गतमित्यत आह— उपाध्यभावमिति । ननूपाध्यभावस्यापि निषेधेऽष्टममपि चैतन्यं सुवचमिति चेन्न । निषेधस्याप्यभावरूपत्वात्तस्यापि निषेधेऽनवस्थापत्तेर्निरुपाधिकत्वासिद्धेश्चेत्याशयेनाह—वाचामिति । वाचामतीतमित्यादि चातद्व्यावृत्त्या सकलविशेषातिगतवस्तुपरत्वाद्विभाजकवैलक्षण्यविरहान्नाष्टमः संभवतीति भावः । तथा च श्रुतिः यतो वाचो निवर्त्तन्त इत्याद्या ॥२॥

ईशजीवौ व्याचष्टे—मायेति । मायाविशिष्टं चैतन्यमीशं वदन्ति । अविद्याविशिष्टं च चैतन्यं जीवम् । उभयमपि च भेदत्रयवत् । तदेव व्याचष्टे–ईशं चेति । आद्यम्—ईशम् । परं—जीवम् । प्राज्ञं तैजसं विश्वं च जगुरित्यन्वयः ॥ ३ ॥

मायाविशिष्ट चैतन्य को ईश एवं अविद्याविशिष्ट चैतन्य को जीव कहते हैं। ईश्वर सूत्रात्मा विराट् ये तीन ईश के भेद हैं और प्राज्ञ तैजस विश्व ये जीव के तीन भेद हैं।। ३ ।।

मायाभिधानां तु समष्टिशक्तिं
विशुद्धसत्त्वां दधतं भवन्तम् ।
ईशं जगुः प्राज्ञमविद्यया चाऽ-
विशुद्धसत्त्वात्मिकयोपधेयम् ॥ ४ ॥

विशुद्धसत्त्वप्रधान समष्टिशक्ति माया से उपहित चैतन्य ईश्वर है और मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या से उपहित चैतन्य प्राज्ञ है।। ४ ।।

समष्टिसूक्ष्मेण युतं वरेण्यं
प्रोचुः प्रपञ्चेन हिरण्यगर्भम् ।

ईशप्राज्ञयोः स्वरूपमाह— मायेति । समष्टीति । एतेन जीवोपाधेर्व्यष्टित्वं ध्वन्यते । विशुद्धसत्त्वामिति । न च जीवोपाधेरविशुद्धत्वात्कथं तत्समष्टित्वमीशोपाधेरिति वाच्यम् । प्रत्येकजलकणानां प्रतिबिम्बादिस्पष्टग्राहकताविरहित्वेनाऽविशुद्धत्वेऽपि तत्समष्टेः स्पष्टतद्ग्राहकरूपतया विशुद्धत्ववदत्राप्युपपत्तेः दधतमिति । प्रत्ययार्थकर्तृत्वघटकं स्वातन्त्र्यमत्र विशेषरूपेण विवक्षितम् । अविद्ययोपधेयमित्यविद्यापारतन्त्र्यं च जीवस्य ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भतैजसौ व्याचष्टे समष्टीति । समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चेन तन्मात्रादिलक्षणेन वक्ष्यमाणेन युतमुपहितम् । वरेण्यमिति । हिरण्यगर्भोपासनां

प्राणं च सूत्रं च तमेव सन्तो
व्यष्ट्या पुनः केशव तैजसं त्वाम् ॥ ५ ॥

समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चोपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ कहलाता है प्राण और सूत्रात्मा भी उसे कहते हैं। व्यष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चोपहित चैतन्य तैजस होता है ॥ ५ ॥

स्थूलप्रपञ्चोपहितः समष्ट्या
वैश्वानराख्यां लभते विराट् सः ।
विश्वः पुनर्व्यष्टिवशादभीष्टः
स्पष्टं त्वयैक्यं सकलस्य तस्मात् ॥६॥

समष्टिस्थूलप्रपञ्चोपहित चैतन्य वैश्वानर एवं विराट् कहलाता है व्यष्टिस्थूलप्रपञ्चोपहित विश्व है। अतः सब

प्रसिद्धामभिप्रेत्येदमुक्तम्। न च तत्र हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टः स्थूल एवोपास्यो न तु सूक्ष्म इति वाच्यम्। अरूपिणोऽपि ब्रह्मणो रूपवत्त्वेनोपासनादर्शनात्सूक्ष्मस्य हिरण्यगर्भस्य स्थूलहिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपेणोपासनायां क्षतिविरहात्। इत्थं च सूक्ष्मसमष्टेर्हिरण्यगर्भसंज्ञापि घटते। अन्ये तु स्वयंभूपरमेष्ठ्यादिसंज्ञितः सत्यलोकवासी पृथगेव हिरण्यगर्भो यदुपासनया ब्रह्मलोकावाप्तिः वक्ष्यमाणकमलासन एव वा स इति वदन्ति ।५।

विश्ववैश्वानरावाह—स्थूलेति। समष्ट्येत्यभेदे तृतीया। समष्टिरूपस्थूलप्रपञ्चोपहितो वैश्वानरः। स एव विराडित्युच्यते। व्यष्टिस्थूलप्रपञ्चोपहितो विश्वः। वस्तुत एक एवोपाधिभेदान्नानासंज्ञां लभत इति वक्ष्यमाणोंकारोपासनौपयिकमीशादीनामैक्यं प्रसञ्जादाह-स्पष्टमिति ॥६॥

की एकता स्पष्ट है ॥ ६ ॥

मायामहेशान विशेषणं चे-
दीशोऽस्युपाधिस्तदसीशसाक्षी ।
जीवोऽस्यविद्या तु विशेषणं चे-
दुपाधिरेषा यदि जीवसाक्षी ॥७॥

माया विशेषण हो तो ईश्वर और उपाधि हो तो ईश्वरसाक्षी होता है तथा अविद्या विशेषण हो तो जीव एवं उपाधि हो तो जीव साक्षी होता है ॥ ७ ॥

विशेषणं धन्विनमानयास्मिन्
धनुस्तथोपाधिरवैति धन्वी ।
ईशः सृजत्यत्र विशेषणं ते
माया तथा भासयतीत्युपाधिः ॥८॥

धनुष्धारी को लाओ यहां धनुष् विशेषण है, धनुष्-

ननु प्रमेयतया प्रसिद्धः साक्षी पृथक् कुतो न निर्दिष्ट इत्यतस्तस्येशजीवान्तर्भावमाह—मायेति । मायाया एकत्वादीश्वरसाक्ष्येक एव । अविद्याया नानात्वाज्जीवसाक्षी नानेति केचित् ॥७॥

विशेषणमिति । धन्विनमानयेत्यत्रानयनक्रियायां धनुषोऽप्यन्वयाद्विशेषणम् । धनुर्न वेदनसमर्थमिति धन्वी वेत्तीत्यत्र क्रियानन्वयि धनुरुपाधिः । ईशः सृजतीति मायाविशिष्टचैतन्यमेव स्रष्टृ । ईशो भासयतीत्यत्र शुद्धं चैतन्यं भासकमिति मायोपाधिः ॥ ८ ॥

धारी जानता है यहां धनुष् उपाधि है ईश्वर सृष्टि करता है यहां माया विशेषण है और ईश्वर जगत् को भासित करता है यहां माया उपाधि है ॥ ८ ॥

भेद्यस्वरूपमविशन्तमुशन्त्युपाधिं
तादृक्स्वरूपविनिवेशि विशेषणं च ।
एकत्र चैकमुभयात्मकमेतदद्धा
माया ह्यचिन्त्यघटनैकपटीयसी ते ॥ ९ ॥

व्यवर्त्त्य के स्वरूप में जो प्रविष्ट नहीं होता है वह उपाधि कहलाता है और जो प्रविष्ट होता है वह विशेषण होता है। एक ही व्यावर्त्त्य में माया और अविद्या विशेषण भी और उपाधि भी है। आप की माया तो विलक्षण ही ठहरी, अघटितघटनापटीयसी जो हुई ॥ ९ ॥

विशिष्टरूपेण सुखी च दुःखी
जीवात्मरूपः स्वयमेव भासि ।

भेद्येति। व्यावर्त्त्येत्यर्थः। एतेन व्यावर्त्तकत्वं सूचितम्। अविशन्तमिति शतुरर्थविवक्षणाद्वर्त्तमानत्वमपि लभ्यते। अवर्त्तमानत्वे तूपलक्षणतेति द्रष्टव्यम्। तादृक्स्वरूपेति। भेद्यस्वरूपेत्यर्थः। एतच्च व्यावर्त्तकत्वसूचनार्थमेव। एकत्रेति। ननु एकत्रोभयात्मकत्वं धन्विनमानय धन्वी वेत्तीत्यत्रानुपदं दर्शितमिति किमत्राश्चर्यमिति चेन्न। अन्वीयमानत्वेनाभिमतस्याप्यैक्यादाश्चर्यावश्यंभावादित्याशयेनोक्तं स्पष्टयति—विशिष्टेति। धनुर्विशिष्ट आनीयते धनुरुपहितश्च तत्रैव तिष्ठतीति न क्वापि दृष्टम्।

साक्षिस्वरूपेण निरञ्जनोऽपी-
त्यहो न वैचित्र्यमतः परं किम् ॥१०॥

अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा सुखी और दुःखी और अन्तःकरणोपहित आत्मा असङ्ग निरञ्जन, इस से बढ़कर क्या विचित्रता हो सकती है ॥ १० ॥

बिम्बे ह्युपाधिरयते मुकुरः स्वधर्मा-
धायी विशेषणविधां प्रतिबिम्बमूर्त्तौ ।
तद्वद्विशेषणमुपाधिविधापि मायाऽ-
विद्या च तत्सकलमप्यविरुद्धमेव ॥११॥

बिम्ब में उपाधिस्वरूप दर्पणादि अपने धर्मों को प्रतिबिम्ब में आधान करता हुआ विशेषण होता है। वैसे ही माया और अविद्या भी उपाधि और विशेषण बन सकते हैं। अतः सभी अविरुद्ध है ॥११॥

एवमन्तःकरणवैशिष्ट्येन सुखी दुःखो चोपहितरूपेण निरञ्जनोऽपीति किमतः परं वैचित्र्यमित्यर्थः ॥ ९-१० ॥

तर्हि असंगतैवेयं प्रक्रियेति वदन्तं तार्किकं प्रत्याह—बिम्ब इति । उपाधिरिति । अन्यथा बिम्बत्वव्यवहारस्यैवायोगात् । अयं भावः बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरत्यन्तभेदाभावादेक एव मुकुरः स्वगतनीलपीतादिकं प्रतिबिम्ब आदधानो बिम्बे चानादधानः विशेषणोपाध्युभयविधां प्रतिपद्यते । तथा-न्तःकरणं प्रतिबिम्बे जीवे स्वगतदुःखादीनादधद्विशेषणं सद्बिम्बे साक्षिण्यु-पाधिर्भवतीति ॥ ११ ॥

घटाकाशतुल्यं हि कूटस्थमेकं
जलाकाशतुल्यं च जीवं द्वितीयम् ।
जगुर्वारिदाकाशतुल्यं तथेशम्
भवन्तं महाकाशतुल्यं तुरीयम् ॥१२॥

घटाकाशसदृश कूटस्थ, जलाकाशसदृश जीव, मेघाकाशसमान ईश्वर एवं महाकाशसमान ब्रह्म है ऐसा भी कहते हैं ॥१२॥

प्राज्ञादिभावत्रितयानुगामी
जीवो भवेन्नाम न प्राज्ञ एव ।
ईशादिभावत्रितयानुगामी
प्रभो भवानीश्वर इत्युपेमः ॥१३॥

केवल प्राज्ञ ही जीव नहीं किन्तु प्राज्ञ तैजस और विश्व इन तीन में अनुगत ही जीव है। और ईश हिरण्य-गर्भ और विराट् में अनुगत ही ईश्वर है ॥१३॥

श्रीविद्यारण्यस्वामिपादमतं दर्शयति—घटेति । कूटस्थं=जीव-साक्षिणम् । जलाकाशतुल्यं=घटगतजलप्रतिबिम्बिताकाशतुल्यम् । वारिदाकाशं=मेघप्रतिबिम्बिताकाशम् । भवन्तमिति । ईश्वरसाक्षी निरुपाधिक एव न पृथगिति भावः । अस्य तत्पदार्थत्वे भागत्याग उपपादनीयः ॥१२॥

त्रिभेदमिति प्रागुक्तं स्पष्टयति—प्राज्ञादीति ॥ १३ ॥

अविद्यावद् बिम्बं प्रतिफलितचैतन्यवलितं
चितिश्चैवोपाधिव्यपगततयैव ह्युपहिता ।
अहं ब्रह्मेत्याभ्यां कथयदपहायांशमुभयो-
रहं ब्रह्मास्मीति प्रथयति भवन्तं समरसम् ।१४।

अविद्या प्रतिबिम्ब और बिम्ब चैतन्य ये तीन अहं शब्द का अर्थ है। (यही जीव है ऐसा भी मानते हैं) और उपाध्यभाव ही जब उपाधि बनता है तब वह ब्रह्म पद का अर्थ है। इस प्रकार अहं ब्रह्म इन दो पदों से उक्त अर्थ को कहते हुए उसमें उपाधि का त्याग कर

जीवेश्वरादिनिरूपणं महावाक्यार्थोपयोगितयापि योजयन्नहमादिपदार्थं स्फोरयति—अविद्यावदिति। अविद्या तत्प्रतिबिम्बतचैतन्यं बिम्बचैतन्यमिति त्रितयमहंपदार्थः। केचिदेतत्त्रयमेव जीवस्वरूपमिति वदन्ति। अन्ये तु प्रतिबिम्बचैतन्यमेव जीवः। बिम्बचैतन्यं तु जीवसाक्षीति विभागं कृतवन्तः। सर्वथाप्यहंपदार्थं उक्तत्रितयमेव। अहं दुःखीत्यादौ प्रतिबिम्बे लक्षणयाऽहं ब्रह्मेत्यत्र च बिम्बे लक्षणया ज्ञानिनो व्यवहरन्तीति संप्रदायविदः। उपाधिव्यपगततयैव= उपाध्यभावेनैव। न चाभावस्यावस्तुत्वान्नोपाधित्वसंभव इति वाच्यम्। तत्प्रयोज्यभेदस्यापि तथात्वेन भेदकत्वलक्षणोपाधितायाः संभवात्। अधिकरणात्मकत्वेन तस्यापि वस्तुत्वाच्च। भावप्रतियोगिकत्वादभावस्योपाधित्वे न कापि क्षतिः। अभावस्य वस्तुत्वोपगमेऽपि निरुपाधिकं ब्रह्मेत्यादिव्यवहारादिसिद्धभावाभावात्मकसकलोपाधिप्रतिषेधव्याघातस्य दुर्निवारतयाऽनिर्वचनीयतामात्रशरणताया उपगन्तव्यत्वाच्च। अंशम्=अनात्मांशम्। भवन्तमिति। अहमर्थस्य भवत्स्वरूपत्वमिति भावः। समरसम्=अखण्डम्॥ १४॥

अहं ब्रह्मास्मि यह महावाक्य अखण्डैकरस भगवत्तत्त्व को ही आपना स्वरूप बतलाता है ।१४।।

नारायणस्त्वं पुरुषोत्तमस्त्वं
विशुद्धसत्त्वप्रकृतिस्थितस्त्वम् ।
तवैव भेदा विधिविष्णुरुद्रा
विशुद्धसत्त्वोपहितस्वरूपाः ।।१५।।

हे भगवन् ! आप ही नारायण हैं, पुरुषोत्तम हैं, विशुद्धसत्वप्रधानप्रकृतिस्थित हैं। आप के ही विशुद्ध-सत्त्वप्रधान ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर प्रभेद हैं ।।१५।।

सृष्टावुपाधिं बहिरभ्युपैषि

उक्तमर्थं संक्षिप्य दर्शयति—नारायण इति । नारा इत्यनेन विश्वतैजसप्राज्ञानां ग्रहणं तदनन्यत्वेन वैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वराणां च, तेषां स्वरूपभूतस्त्वमित्यर्थः । क्षराक्षराभ्यामन्यः शुद्धचेतनोऽपि त्वमेवेत्याह—पुरुषोत्तमस्त्वमिति । वक्ष्यमाणानां ब्रह्मादीनां परमेश्वरस्वरूपत्वं साधयितुमीश्वरात्मकत्वमाह—विशुद्धसत्त्वप्रकृतिस्थितस्त्वमिति । तवैव = विशुद्धसत्त्वप्रकृतिस्थितचैतन्यस्यैव । एतेन ब्रह्मविष्णुरुद्राणां रजःसत्त्वतमोगुणावच्छिन्नत्वमिति मतं प्रत्युक्तम् । तथा सति प्रसिद्धसर्वज्ञत्वापलापापत्तेः । असर्वज्ञत्वाऽप्रवर्त्तकत्वमूढत्वादिप्रसङ्गाच्च । विशुद्धसत्त्वावच्छिन्नं चैतन्यमीश्वर इति सिद्धान्तव्याघाताच्च । एतदेव द्रढयन्नाह—विशुद्धसत्वोपहितस्वरूपा इति ।।१५।।

नन्वेवं रजःसत्त्वतमःप्रकृतिकत्वं ब्रह्मादीनां प्रसिद्धं कथमुपपद्यत इत्यत आह—सृष्टाविति । बहिः = सहकारिकारणतया । न तु स्वरूपानुप्रविष्ट

यत्त्वं रजस्तेन विधिः प्रसिद्धः।
सत्त्वेन संरक्षणतश्च विष्णुः
संहारहेतोस्तमसा च रुद्रः ॥१६॥

हे भगवन्! आप सृष्ट्यर्थ रजोगुण को बाहर धारण करते हैं इसलिये आप विधि कहलाये रक्षार्थ सत्त्वगुण को तथा संहारार्थ तमोगुण को धारण करने से विष्णु और रुद्र कहलाये ॥१६॥

ब्रह्मा विष्णुः शंकरो वाम्बिका वा
हेरम्बो वा राघवो माधवो वा।
साक्षात्वासाक्षाच्च भक्तानुकम्पिन्
सर्वे देवास्तावकीनावताराः ॥१७॥

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, अम्बा, गणेश, राम, कृष्ण

मित्यर्थः। सत्त्वेन सहकारिकारणतया स्वीकृतेन बहिर्भूतेन। एवं तमसेत्यत्र। न च सर्वस्या मायाया ईश्वरोपाधित्वाद्बहिर्भूतसत्त्वादिगुणाऽप्रसिद्धिरिति वाच्यम्। एवं सति स्वोपाधिभूतमायात एव निष्कृष्य सत्त्वादिगुणानां धारणान्न दोषः। यथा विष्णुकर्णमलोद्भूतत्वेऽपि मधुकैटभयोर्न विष्णुशरीरस्य राक्षसकायघटितत्वमिति ॥१६॥

लोकविशेषवर्त्तिनः परमात्मत्वं मन्यमानो देशपरिच्छिन्नस्यान्यत्र प्रतिपादितं तुच्छत्वं नैव वारयितुं प्रभवतीत्यवतारभेदा ब्रह्मादयः। साक्षात्त्वासाक्षात्त्वयोस्तु परे विवदन्तां कामं, भावग्राही स यथाकाममाविर्भवति, कुतः? भक्तानुकम्पिन्निति ॥१७॥

ये सभी देव हे भगवन् ! कोई साक्षात् और कोई परम्परया आपके ही अवतार हैं ॥१७॥

भवन्तमन्तः करणप्रवृत्तं
प्रभो प्रमातारमुदाहरन्ति ।
प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तौ
बिम्बं प्रमां च प्रतिबिम्बमेव ॥१८॥

प्रमा काल में अन्तःकरण स्थित चैतन्य प्रमातृचैतन्य है। अन्तःकरण वृत्ति में बिम्बचैतन्य प्रमाणचैतन्य कहलाता है ॥१८॥

वाह्येन्द्रियस्थो विषयान्तवृत्ति-
धारास्थितो वान्यमते प्रमाणम् ।
प्रमां पुनर्वृत्तिगतं भवन्तं
ब्रुवन्ति चैतन्यमनन्यवस्तु ॥१६॥

भवन्तमिति । अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीव इत्येके। तेषां सुषुप्तौ जीवसत्त्वं सम्पाद्यम्। अविद्यावच्छिन्नं चैतन्यं स इति परे। सर्वथाप्यन्तःकरणे प्रमोन्मुखतया प्रमाकालीनतया वा वर्त्तमानं प्रामातृचैतन्यं भवति। अन्तःकरणवृत्तौ बिम्बभूतं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यं, प्रतिबिम्बभूतं च प्रमाचैतन्यम् ॥१८॥

बाह्येति। मवान्तरे चक्षुरादीनां प्रमाकरणत्वेन तन्निष्ठचैतन्यमेव प्रमाणचैतन्यम्। अन्तःकरणसम्बन्धात्सकलानीन्द्रियाण्यपीतिवार्त्तिककृता

इन्द्रियचैतन्य या विषयपर्यन्तवृत्तिधाराचैतन्य दूसरों के मत में प्रमाणचैतन्य है और वृत्तिचैतन्य ही जो विषय चैतन्य से अनन्य है प्रमा चैतन्य है ॥१६॥

घटाद्यवच्छिन्नचिदात्मकत्वात्
त्वामेव विष्णुं विविदुः प्रमेयम् ।
यस्यावृतिं वृत्तिरपास्य तत्रा-
वच्छेदकत्वाद् विषयान् व्यनक्ति ।२०।

आप ही घटाद्यवच्छिन्नचित्स्वरूप होकर प्रमेय-चैतन्य होते हैं जिसका आवरण भङ्ग होने पर अवच्छेदक-रूप से घटादि की प्रतीति होती है ॥२०॥

ब्रह्मेशजीवादिकसप्तहस्तं
द्विसाच्चिशीर्षं खचतुष्कशृङ्गम् ।

इन्द्रियचैतन्योक्तेः । विषयपर्यन्तचित्तवृत्तिधारास्थं तदपरे ॥१६॥

चैतन्यस्य व्यापकत्वाद् घटादावपि तद्युक्तमित्याशयेनाह विष्णुमिति । प्रमेयं=प्रमेयचैतन्यम् । तदेवोपपादयति–यस्येति । ननु चैतन्यस्यैव प्रमाविषयत्वे कथं घटादेः प्रतीतिरत आह–तत्रेति ॥२०॥

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो यस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश" इति मन्त्रमर्थविशेषेण पठन् इग्रूपं प्रमेयपदार्थं संक्षेपेणोपसंहृत्य भगवन्तं स्तौति–ब्रह्मेशेति । खचतुष्केति । घटाकाशजलाकाशादिचतुष्टयोपमितेत्यर्थः ।

विश्वादिपादत्रयमीशमीडे
त्रैगुण्यबद्धं पुरुषर्षभं तम् ॥२१॥

ब्रह्म ईश्वर जीव प्रमाता प्रमाण प्रमिति और प्रमेय ये सात जिसके हाथ हैं, जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी ये दो जिसके सिर हैं, घटाकाश जलाकाश मेघाकाश और महाकाश से उपमित चार चैतन्य जिस के शृङ्ग हैं, विश्व तैजस प्राज्ञ जिस के तीन पाद हैं ऐसे त्रिगुणात्मकमाया-तत्कार्योपहित पुरुषर्षभ भगवन् की हम स्तुति करते हैं ॥२१॥

एवंविधे भवति माधव बोधरूपे
मायावशाद् दृशि विकल्पितमेव विश्वम् ।

विश्वादीति । माण्डूक्ये विश्ववैश्वानरप्रभृतेः पार्थक्येनानभिधानान्न पादषट्कवत्वम् । न च तुरीयपादानुक्तेर्न्यूनता । तस्य स्वयं वृषभरूपत्वात् । मायासंख्यातुरीयमिति कृच्छ्रेण तस्य तुरीयत्वनिरूपणादित्यवधेयम् । ईशमीडे इति क्रियोपादानानन्तरं त्रैगुण्यबद्धमिति विशेषणान्तरोपादानं दृग्दृश्यरूपप्रमेयद्वयं पृथक्कृत्य दर्शयितुम् । त्रैगुण्येत्यनेन मायातत्कार्यं वक्ष्यमाणे विवक्षिते । चैतन्यभेदप्रयोजकोपाधिभेदा अपि त्रैगुण्यनिबन्धना एवेत्यर्थविशेषं ध्वनयितुं प्रमेयनिरूपणान्तेऽपठित्वा मध्य एव दृङ्निरूपणानन्तरं स्तुतिः पठितेति ध्येयम् ॥२१॥

दृग्रूपं प्रमेयं निरूप्य दृश्यं निरूपयितुमारभत—एवमिति । भवति= त्वयि । माधव=मायां प्रमायां चैतन्याधायक । विकल्पितं विविधरूपेण कल्पितम् । तथा च दृश्यस्य मिथ्यात्वान्नाद्वैतहानिः । ननु मायाया

मायापि नाम भगवन्निजकल्पितैव
नात्माश्रयोऽत्र यदनादिरियं प्रसिद्धा ।२२।

यथोक्त चैतन्यबोधात्मक दृग्रूप आप में माया के कारण यह सारा विश्व कल्पित है। माया भी स्व-कल्पित है। आत्माश्रय इसलिए नहीं है कि यह माया अनादि है ॥२२॥

ब्रह्मेशजीवा विविधाश्च भेदा
माया पुनस्तच्चितियोग एते ।
अनादयस्त्वय्युदिताः षडीश
प्रवाहरूपेण तु संसृतिश्च ॥२३॥

ब्रह्म ईश्वर जीव और जीवेश्वरादिभेद, माया तथा मायाचैतन्यसंबन्ध ये छः अनादि हैं और प्रवाहरूप से संसार भी अनादि है ॥२३॥

अकल्पितत्वे द्वैतापत्तिः, कल्पितत्वे कल्पकं मायान्तरमित्यनवस्थेत्यत आह—मायापीति ॥ २२ ॥

अनादिमाययापि जगत्कल्पनं जीवादृष्टनिबन्धनमीश्वरनियन्त्रितमित्येषमन्येषामप्यनादित्वं प्राप्तं प्रसङ्गात्परिगणयति ब्रह्मेति। त्वयीति। अयं युष्मदर्थस्तु कालातीत इति नात्र सादित्वानादित्वचिन्तैवेति न सप्तमाऽपरिगणनान्न्यूनत्वम्। कालादृष्टादयस्तु प्रवाहरूपेणैवानादयः। नातिरिक्तकालादिरूपेयते। जीवाद्युत्पत्तिश्रुतिस्तु परमात्मानन्यत्वख्यापनतात्पर्यैति ध्येयम् ॥ २३ ॥

जीवानां सह भवता परस्परं च
भेदो यः सह च जडैस्तथा जडानाम् ।
एतेन प्रसरति भेदपञ्चकेन
बन्धो यत्प्रशमनतः प्रभो त्वदाप्तिः ॥२४॥

जीवों का ईश्वर के साथ भेद, जीवों का परस्पर भेद और जडों के साथ भेद, जडों का ईश्वर के साथ भेद और परस्पर भेद इस प्रकार के पांच भेदों से बन्धन होता है। भेदनिवृत्ति से भगवत्प्राप्ति होती है ॥२४॥

माया पुनः सत्त्वरजस्तमोभि-
र्युक्ता परात्मन् भवदीयशक्तिः ।
न साऽसती सत्युभयात्मिकापि
नान्याप्यनन्याप्युभयात्मिकापि ।२५।

हे भगवन् ! माया सत्त्व रज तम इन तीन गुणों से युक्त आप की शक्ति है। वह सत् असत् तथा उभय

विविधाश्च भेदा इत्युक्तं विवृणोति—जीवानामिति। जीवेश्वरभेदः जीवानां परस्परभेदः, जडेश्वरभेदः, जडानां परस्परभेदः। अविद्यामायाव-च्छिन्नत्यादिपरस्परभेदानामनादित्वमन्यत्र जडानां परस्परभेदः सादिरेव। तथापि बन्धहेतुत्वात्प्रसङ्गत उपात्त इत्याशयवानाह—एतेनेति। अत एव पूर्वत्र विविधा इत्येवोक्तम् ॥ २४ ॥

प्रकृतमनुसरति—मायेति। अनिर्वाच्यत्वं मायाया आह—न सेति ॥२५॥

रूप नहीं, अन्य, अनन्य तथा उभयरूप नहीं है ॥२५॥

समष्टिशक्तिं तव माधवाहु-
मूलामविद्यां जगतः सवित्रीम् ।
व्यष्टिं गुणाहिप्रभृतेश्च तूलां
कलेवरं कारणसंज्ञितं यत् ॥२६॥

हे माधव ! आप की समष्टिशक्ति मूलाविद्या है जगत्कारण है। व्यष्टिशक्ति तूलाविद्या है रज्जुसर्पादि कारण है। यही कारणशरीर भी है ॥२६॥

शक्तिस्तदीयाऽऽवरणाभिधाना
भवत्स्वरूपं भगवन् पिधत्ते ।
विक्षेपशक्तिश्च समावृतेऽस्मिन्
गुणेऽहिवद्भावयते प्रपञ्चम् ॥२७॥

हे भगवन् ! माया की आवरणशक्ति आप के स्वरूप को ढकती है और विक्षेप शक्ति रज्जु में सर्प के समान प्रपञ्च को उत्पन्न करती है ॥२७॥

गुणाहिप्रभृतेरिति। मन इन्द्रियादेरपीयं प्रसवित्री। सुषुप्तिकाले तत्रैव विलयादित्यपि वदन्ति। मतभेदा अन्यत्र द्रष्टव्याः। कलेवरमिति। समष्टिः परमेश्वरस्य कारणशरीरम्। स एव कारणप्रपञ्च इत्युच्यते। व्यष्टिश्च जीवात्मनः कारणशरीरम् ॥ २६ ॥

शक्तिस्तदीयेत्यादिनाऽऽवरणशक्तिं विक्षेपशक्तिं चाभिधाय तदेव

इयं रज्जुरित्यत्र सामान्यरूपं
यथाधार आशीविषस्येदमंशः ।
सदाख्यं त्वदीयं च सामान्यरूपं
तथाधार एतस्य विश्वस्य विष्णो ।२८।

यह रज्जु है यहां पर 'यह' यह सामान्यांश है रज्जु विशेषांश है। इन में 'यह' यह सामान्यांश कल्पितसर्प का आधार है। वैसे परमात्मा का सदंश कल्पितजगत् का आधार है ॥२८॥

अधिष्ठानमाहुः समाच्छन्नवस्तु
स्वरूपं विशेषं भुजङ्गस्य रज्जुम् ।
तथैवापरिच्छिन्नमानन्दरूपं
त्वदीयं ह्यधिष्ठानमस्या जगत्याः ।२९।

आवृत रज्जु आदि विशेषरूप कल्पितसर्पादिका अधिष्ठान है। वैसे ही परमात्मा का अपरिच्छिन्न आनन्दरूप जगत् का अधिष्ठान है ॥२९॥

सपरिकरं निरूपयति—इयमित्यादिभिः । इयं रज्जुरिति सामान्यविशेषप्रदर्शनार्थमुक्तम् । भ्रमे रज्जोरभानात् ॥२७-२८॥

तत्र सामान्यांशः कल्पितवस्तुन आधारः । विशेषांशोऽधिष्ठानम् । इदमंश आधारः । रज्ज्वंशोऽधिष्ठानम् । एवं सदंश आधारः अपरिच्छिन्नत्वानन्दत्वाद्यंशोऽधिष्ठानं प्रपञ्चस्य । समाच्छन्नवस्त्विति । अत्र वस्तु-

यदस्तिभातीति मतिर्जगत्यां
भवेदनुस्यूततथा परात्मन् ।
द्रष्टा सदात्मा जगतोऽस्य तस्मा-
दाधारभावं भजसे त्वमेकः ॥३०॥

अस्ति भाति का जगत् में अनुस्यूतरूप से अनुभव होता है। अतः सत् चित् रूप अविभक्त परमात्मा आधार सिद्ध होता है ॥३०॥

नैवापरिच्छिन्नचितिर्विभाती-
त्येवं प्रतीतेर्भगवन् भवान् हि ।
द्रष्टाऽपरिच्छिन्नवपुर्जगत्या

पदेन मालाज्ञानेन सर्पनिवृत्तावतिप्रसङ्गनिवारणम्। अस्या जगत्या इति। मायापि जगत्यन्तर्गता। तथा च संक्षेपशारीरकाचार्याः आश्रयत्वविषयत्व-भागिनी निर्विभागचितिरेव केवलेत्यादि ॥२९॥

ननु सदंश आधारः। अपरिच्छिन्नानन्दाद्यंशोऽधिष्ठानमिति विभागे निर्विभागचितिराश्रय इति कथमित्याशङ्कायां निर्विकारचितेरुभयात्मकता-मुपपादयति — यदस्तीति द्वाभ्याम्। अस्तीति सत् भातीति चिद्रूपो द्रष्टाऽ-नुगतप्रतीतिविषय आधारः। एकः = अविभक्तः ॥३०॥

अपरिच्छिन्नचितिरिति। सद्रूपद्रष्टेत्यर्थः। परिच्छिन्नस्य मिथ्यात्वेन सत्त्वायोगात्। इत्थं च निर्विभागचितेराश्रयत्वं मायादिनिरूपितं सुघटम्। मायायाः किं हि दुष्करमिति भावः। वाचस्पतिमिश्रास्तु अज्ञानस्याधारो जीवः। विषयश्च ब्रह्मान चैवं ब्रह्मवर्तिनो जगतः कारणवैयधिकरण्यं स्यादिति

भवेदधिष्ठानविधां दधानः ॥३१॥

अपरिच्छिन्न चैतन्य प्रतीत नहीं होता ऐसी प्रतीति होने से हे भगवन् ! अपरिच्छिन्न सत् द्रष्टा आप ही इस जगत् का अधिष्ठान भी हैं ॥३१॥

एवं त्वयि भ्रमवशात्सकलः प्रपञ्च
आरोपितो युगपदेव यथैव सुप्तौ ।
किन्त्वत्र सृष्टिविषये लयचिन्तनादि-
हेतोः क्रमं कमपि दर्शयति श्रुतिस्तु ।३२।

हे भगवन् ! पूर्वोक्तरीत्या आप में भ्रम से सारा जगत् एक साथ ही कल्पित हुआ है, जैसे स्वप्न में। श्रुति में सृष्टिक्रम तो लयचिन्तनादि के उपयोगी होने से बताया है ॥३२॥

वाच्यम्। जीवगताज्ञानेन रज्जौ सर्पोत्पत्तेरिव वैयधिकरण्येऽपि जगदुत्पत्त्युपपत्तिसंभवात्। अज्ञानपरिणामस्थले फलबलेन तादात्म्येन विषयोत्पत्तौ विषयतासम्बन्धेनाज्ञानस्य कारणत्वमित्येव कार्यकारणभावोपगमात्। न चाऽज्ञानकार्यस्य जीवस्य कथमज्ञानाश्रयत्वं ? पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रया भवतीत्युक्तेरिति वाच्यम्। उभयोरनादित्वस्योक्ततयैतद्दोषाऽप्रसक्तेरित्याहुः। पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति विरम्यते ॥ ३१ ॥

एवमिति। स्वप्ने प्रथमं पितुः पश्चात्पुत्रस्योत्पत्तिरिति न क्रमः। किंतु पितृपुत्रभावेन युगपदेवोभौ कल्प्येते। एवं जाग्रत्यपि पौर्वापर्यंभावोऽसिद्ध एव। न चैवं तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वा-

परे पुनः प्राहुरनादिशक्तिसं-
निवेशवैशेष्यवशो भ्रमक्रमः ।
असाङ्गसाङ्गोभयरूपभेदभा-
गियं हि माया श्रुतिभिर्विभाषिता ।३३।

दूसरे यह मानते हैं कि शक्तियों के संनिवेशक्रम से ही भ्रम भी क्रमशः ही होता है । यह माया सर्वथा असांग या सांग या उभयात्मक नहीं है यह श्रुतियों में स्पष्ट है ।

ससर्जिथ प्राणिकदम्बकर्म-
सापेक्ष एवाखिलमेव विश्वम् ।

युरित्यादिसृष्टिक्रमश्रुतिः, छान्दोग्ये एतच्छ्रुतिविरोधपरिहारायोपसंहारन्याय-प्रदर्शनपरं सौत्रवचनं चोपरुध्येतेति वाच्यम् । लयचिन्तनादिलक्षणो-पासनोपयोगित्वात्क्रमोक्तेः ॥३२॥

परे=श्रुतिसूत्रनिर्णीतसृष्टिक्रमस्यान्यार्थत्वमसहमानाः । शक्तीत्यादि । यथा वारिदेषु कदाचिदेव गजभ्रमः कदाचिदेव च रथादिभ्रमः । संनि-वेशक्रमापेक्षित्वात् । अनन्तशक्तिप्रसिद्धेः इन्द्रो मायाभिरिति बहुवचन-श्रुतेश्च न मायायाः सर्वथा निरवयवत्वं येन संस्थानविशेषावस्थानक्रमानुप-पत्तिः । न च साङ्गत्वेनाजात्वश्रुत्यनुपपत्तिः । साङ्गत्वस्याप्यनुपगमात् । एकामिति श्रुतेः । एवं तर्हि विरुद्धमिव श्रुतिद्वयम् । सत्यम् । विरुद्धमिव न तु विरुद्धमेवानिर्वचनीयायां मायायां तात्पर्यात् तदाह—विभाषिता= विरुद्धमिव भाषिता ॥३३॥

एवं मतभेदेन सृष्टिक्रमं समर्थ्य क्रमिकीं सृष्टिं वदयन् तत्र कारणान्तर-मप्यादिशति—ससर्जिथेति । कर्मेति । अनादिकर्मपरम्परेत्यर्थः । सापेक्ष

फलप्रदातास्युपपत्तितो हि
त्वमेव हेतुव्यपदेशतश्च ॥३४॥

प्राणियों के कर्मानुसार अपने जगत् बनाया। आप ही फल दाता है। यह युक्ति सिद्ध है इसमें श्रुति ने हेतु भी बताया है ॥३४॥

आकाशमादधिथ शब्दगुणं सशब्द-
स्पर्शं समीरणमनन्तमनुप्रविश्य।
तत्तेज ऐक्षतवचो गगनादिकेषु
चानुप्रवेशमुपलक्षयति त्वदीयम् ।३५।

आप ने शब्दगुण वाला आकाश बनाया। उसमें

इति। तथा च न वैषम्यनैर्घृण्ये भगवतः। तथा च सूत्रं वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादिति। कुतस्तर्हि सृष्टिमेव करोति परमेश्वर इत्यत आह–फलप्रदातासि। न च कर्मफलप्रदानं सृष्टिमन्तरा संभवत्यनादिनियमात्। ननु कर्मैव फलप्रदमिति मीमांसकं प्रत्याह–उपपत्तित इति। तथा च न्यायः—फलमत उपपत्तेः। धर्मं जैमिनिरत एव। पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशाभ्याम् ।।३४।।

आकाशम्=आकाशतन्मात्राम्। शब्दगुणमिति। गुणगुणिनोरभेदाच्छब्दतन्मात्रेत्यप्युच्यते। आदधिथ= चकर्थ। विदधात्यादधात्यपीत्याख्यातकोशात्। अनन्तमाकाशमनुप्रविश्य समीरणमादधिथेत्यन्वयः। तत्तेज ऐक्षतेति श्रुतौ जडस्येक्षणायोगात् सदनुप्रवेशः सिद्धयति। इत्थं च यतो वा इमानि भूतानि जायन्त इति परमात्मनः सर्वजगदुत्पत्तिश्रुतिरप्युपपद्यते। उपलक्षयतीति। न्यायतौल्यादिति भावः ॥३५॥

प्रवेश कर फिर शब्दस्पर्शगुण वाला वायु बनाया। 'तत्तेज ऐक्षत' यह श्रुति आकाशादि में भी आप के अनुप्रवेश का उपलक्षण है ॥३५॥

वायौ तिष्ठन्नग्निमाधात् सशब्द-
स्पर्शं रूपं संदधानं भवान् हि ।
तेजोवृत्तिर्निर्ममेऽपो दधानाः
शब्दं स्पर्शं रूपमेव रसं च ॥३६॥

वायु में प्रवेश कर आप ने शब्दस्पर्शरूपगुण वाले अग्नि को और अग्नि में प्रवेश कर शब्दस्पर्शरूप-रसगुण वाले जल का बनाया ॥३६॥

महीं व्यधात्संदधतीं हि शब्दं
स्पर्शं च रूपं च रसं च गन्धम् ।
सूक्ष्माण्यमूनीश भवत्सकाशाद्
भूतानि भूतानि विदन्ति धीराः ॥३७॥

शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध गुण वाली पृथ्वी को आप ने बनाया। ये सूक्ष्म भूत आप से ही उत्पन्न हुए ऐसे पण्डित लोग मानते हैं ॥३७॥

रूपमिति स्वातन्त्र्येण निर्देशो विशेषगुणत्वप्रदर्शनाय। एवमन्यत्र। अन्वाचये चकाराः। भवत्सकाशादिति यतो वा इमानीत्यादिश्रुतेः ॥३७॥

अन्ये महत्तत्त्वमहंकृतिं च
बिहायसः प्राग्जनुषा विहेषुः ।
निरब्रवीदष्टविधां भवान् यद्
गीतासु विष्णो प्रकृतिं स्वकीयाम् ।३८।

दूसरे लोग आकाश से पहले महत्तत्त्व और अहंकार-तत्त्व की भी उत्पत्ति मानी है। भगवान ने भी गीता में आठ प्रकृतियां वर्णित की हैं ॥३८॥

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि तेषां
समष्ट्यात्मसत्त्वांशतः संबभूवुः ।

एवं श्रुतिसूत्रावष्टम्भेन सृष्टिमभिधाय मतान्तरमाह—अन्ये त्विति। महत्तत्त्वं=समष्टिबुद्धितत्त्वम्। अहंकारं समष्ट्यहंकारम। नन्विदम-प्रामाणिकमतमत आह—निरब्रवीदिति। भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधेति भगवद्वचनम्। तत्र भूम्यादिपदं भूम्यादितन्मात्रापरम्। इयं मे प्रकृतिरिति प्रकृतित्वोक्तेः। अत एव मन इत्यहंकारतत्त्वम्। बुद्धिरिति महत्तत्त्वम्। अहंकार इत्य-व्यक्तम्। तथैव तत्र भाष्यम्। यत्तु यथाश्रुतार्थपरित्यागे मानाभाव इति माध्वजयतीर्थौ। तौ प्रकृतिपदं नावलोकितवन्तौ। मूलप्रकृतिरविकृतिर्म-हदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेत्येवमष्टानां सांख्यशास्त्रेऽपि यथोक्तानामेव प्रकृतित्वं दर्शितम् ॥३८॥

भूतसृष्ट्युत्तरं भौतिकीं सूक्ष्मां सृष्टिमाह—मन इति। अंशत इति। तेन न तन्मात्राविलोपः। अन्तःकरणेन शब्दादिसर्वविषयग्रहणाद्युक्त.मा-काशादिसत्त्वसमष्टिसमुद्भवत्वम्। युक्तं चाकाशादिप्रत्येकविशेषगुणग्राहिणां

शशाङ्कः स्वयंभूर्वृषाङ्कः खगाङ्को
भवानेव तेषामधिष्टातृदेवाः ॥३९॥

आकाशादि के समष्टिसत्त्वांश से मन बुद्धि अहंकार चित्त ये चार अन्तःकरण हुए जिनके देवता क्रमशः चन्द्र ब्रह्मा शंकर और वासुदेव आप के ही स्वरूप हैं ॥३९॥

तद्व्यष्टिसत्त्वांशसमुद्भवास्तु
श्रोत्रं त्वचा दृग् रसना च नासा।
दिग्वायुरर्कौ वरुणोऽश्विनौ च
त्वमस्यधिष्ठातृविधो विधोऽत्र ॥४०॥

आकशादि के व्यष्टिसत्वांशसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण हुए। दिग्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार ये उनके अधिष्ठातृदेव वस्तुतः आप हैं ॥४०॥

प्राणापानौ व्यानमेवं समानो-
दानौ चाधास्त्वं रजोंशैः समष्ट्या।
ऊर्ध्वं प्रत्यक् सर्वतो मध्यतस्ते
कण्ठे चेति स्थानभेदप्रभिन्नाः ॥४१॥

श्रोत्रादीनां ज्ञानेन्द्रियाणां तद्व्यष्टिसत्त्वांशजत्वं, हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरग इति स्थानभेदप्रभिन्नस्य प्राणस्य सर्वेन्द्रियादिप्रवर्त्तकत्वात् समीष्टरजोंशकार्यत्वं

आकाशादि के समष्टि रज अंश से प्राण हुआ। हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और पूरे शरीर में रहने से प्राण अपान समान उदान और व्यान ये नाम उसके हुए ॥४१॥

वाचं च पाणिं च पदं च पायुं
चोपस्थमप्येव भवान् रजोंशैः ।
व्यष्टया विधायाग्निसुरेन्द्रविष्णु-
यमप्रजेशात्मतया प्रविष्टः ॥४२॥

हे भगवन् ! आकाशादि के व्यष्टिरज अंश से वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) उपस्थ (जननेन्द्रिय) इन कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न कर अग्नि इन्द्र विष्णु यम और प्रजापतिरूप से आप उनमें प्रविष्ट हुए ॥४२॥

निरुक्तमन्तःकरणं मनोमुखं
श्रोत्रादिकं धीन्द्रियपञ्चकं विभो ।
वागादि कर्मेन्द्रियपञ्चकं तथा
प्राणाश्च ते भौतिकसूक्ष्म नम् ॥४३॥

च ।३९-४१। वाचमित्यादि । श्रोतानीमानीन्द्रियाणि । तेन कन्धरोदरस्फि-चाप्रभृतीनामतिरिक्तेन्द्रियत्वं नाशङ्कनीयम् । इमानि कर्मेन्द्रियाणि ॥४२। निरुक्तमित्यादिश्लोकद्वयेन सूक्ष्मभूतभौतिकसृष्टिमुपसंहरन् सूक्ष्म

पूर्वोक्त मन आदि अन्तःकरण श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच प्राण यह आप की भौतिक सूक्ष्म पदार्थों की सृष्टि है । ४३ ।

यथोक्तमन्तःकरणादि सूक्ष्मैः
सूक्ष्मप्रपञ्चं निगदन्ति भूतैः ।
एतत्समष्टिस्तव लिङ्गदेहो
व्यष्टिश्च जीवस्य हिरण्यवर्णिन् ॥४४॥

पूर्वोक्त सूक्ष्म भौतिक (अन्तःकरणादि) तथा सूक्ष्म भूत यह सूक्ष्मप्रपञ्चसृष्टि है । इनकी समष्टि हे भगवन् ! आप का लिंग शरीर है और व्यष्टि जीव का लिङ्ग शरीर है ॥

तेषां तमोंशैरुपभोगहेतो-
र्विधाय पञ्चीकरणं मुरारे ।
स्थूलानि भूतान्युदपादयस्त्व-
मण्डं यतः प्राणिनिकाय एव ॥४५॥

हे भगवन् ! आकाशादि के तम अंश से प्राणियों के कर्मफलभोगार्थ पञ्चीकरण कर आप ने स्थूल भूत उत्पन्न किये जिनसे ब्रह्माण्ड एवं प्राणिशरीर हुए ॥४५॥

शरीरमपि विमृश्याधुना स्थूलां भूतभौतिकसृष्टिं निरूपयितुमुपक्रमते—तेषामिति ॥४३-४५ ।

द्विधा द्विधा त्वं हि विधाय भूता-
न्येकैकशोऽथादिमपञ्चभागम् ।
कृत्वा चतुर्धा निजभिन्नभागे-
ष्वायोज्य पञ्चीकरणं चकर्थ ॥४६॥

आकाशादि एक एक भूतों को दो दो भाग कर फिर एक एक भाग को चार चार विभाग कर अपने भाग के इतर चार भूतों से जोड़ने पर पञ्चीकरण होता है ॥४६॥

त्रिवृतं करवाणि वेदवाक्
यदवोचत्त्रिवृदर्थमीक्षणम् ।
भगवन्नुपलक्षणं भवे-

पञ्चीकरणप्रकारमाह--द्विधेति । ननु "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्" इति श्रुतेर्जीवात्मकर्तृकं नामरूपव्याकरणमिव जीवात्मकर्तृकमेव त्रिवृत्करणोपलक्षितपञ्चीकरणमपि स्यादित्यत आह—त्वं हीति । हिरवधारणे । न तु जीवात्मेत्यर्थः । अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येत्यस्य नोत्तरवाक्येऽन्वयः । पूर्ववाक्य एवाकाङ्क्षापरिक्षयात् । अग्ने रजाशया इत्यादौ तनूर्वर्षिष्ठेत्यादिपदान्तराकाङ्क्षावदत्रोत्तराकाङ्क्षाविरहाच्च । त्रिवृत्करणस्य जीवात्मकर्तृकत्वोपपादकवाक्यशेषाद्यभावाच्च । नामरूपव्याकरणविरहे कृतस्यापि पञ्चीकरणात्मकसंस्थानविशेषावस्थानसंपादनस्य व्यर्थतापत्तेः पञ्चीकरणोक्तेः प्रागेव नामरूपव्याकरणोक्तिः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वश्लोके उपभोगहेतोरित्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥४६॥

उपलक्षणमिति । नन्विदमप्रामाणिकम् । श्रुत्यनुक्तत्वात् । न च तेव-

त्तव पञ्चीकरणेत्तणस्य तत् ॥४७॥

मैं त्रिवृत् करूँ यह वेदोक्त त्रिवृत्करणार्थ भगवान का ईक्षण पञ्चीकरणेक्षण का उपलक्षण है ॥४७॥

आकाशश्चाकाशमात्रा च वायु-
मात्रेत्येवं संप्रतिष्ठाप्रसङ्गे ।
प्राह त्वय्याकाशवाय्वोः प्रतिष्ठां
मात्राया ह्याथर्वणी श्रौतवाणी ॥४८॥

"सारा जगत् परमात्मा में प्रतिष्ठित है" इस प्रसंग में आकाश आकाशमात्रा वायुमात्रा इत्यादि रीति प्रश्नोपनिषद् में आकाश और वायु की मात्राओं को भी आप में प्रतिष्ठा बतायी, अतः पञ्चीकरण उचित है ॥४८॥

आदिमात्रप्रकरणे त्रिवृत्करणमात्रं प्रासङ्गिकम् । यत्राकाशवाय्वोरपि सृष्टिरुक्ता तत्रार्थत एव पञ्चीकरणं न्यायतौल्यात्सिद्ध्यतीति वाच्यम् । आकाशवायुघटितपञ्चीकरणं नास्तीत्यत एव तौ परित्यज्य त्रिवृत्करणमात्रोपयोगितेजोऽबन्नमात्रसृष्टिश्छान्दोग्य उक्तेश्चरथापि सुवचत्वात् । इत्थं च वाजसनेयिनां मूर्तामूर्तविभागोऽपि संगच्छते । पञ्चीकरणपक्षे चाकाशवाय्वोरपि मूर्तत्वमेव वक्तुं युक्तं स्यादित्याशङ्क्य प्रश्नोपनिषद्वाक्यान्यथानुपपत्ति पञ्चीकरणोपलक्षणे प्रमाणमाह--आकाशश्चेति । "स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्त" इत्युपक्रम्य पृथिवी च पृथिवीमात्रा चेति क्रमेण "वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा चेति निर्देशात्पञ्चीकरणमन्तरा वाय्वाकाशतन्मात्रयोर्भेदायोगात्पृथिवीमात्रादितुल्यपठितत्वात् सिद्धं पञ्चीकरणमित्यर्थः । एतेनाकाश-

भूरादयोऽण्डेऽत्र भवन्ति लोका
जरायुजाद्या अपि तत्र कायाः ।
सृष्ट्वाखिलं तत्समनुप्रविष्ट-
स्त्वं नाथ संजीवयितुं समस्तम् ॥४६॥

उस अण्ड (ब्रह्माण्ड) में भूरादि चौदह लोक तथा जरायुजादि शरीर होते हैं। इन सबकी सृष्टि कर उन्हें जीवित करने के लिये आप उनमें अनुप्रविष्ट हुए ॥४६॥

स्थूलरूपमखिलं समष्टित-
स्तावकं वपुरुदीरितं विराट् ।
व्यष्टितः किल जरायुजाण्डज-

मात्रेत्यादिना श्रोत्रेन्द्रियादिकं विवक्षयतामित्यपि प्रत्युक्तं श्रोत्रादीनां तत्रैव पृथक्परिगणनाच्च । ४७-४८

विधाय पञ्चीकरणमित्युक्तं विवृतम् । अथाण्डं यतः प्राणिनिकाय एवेत्युक्तं विवृणोति—भूरादय इति । अत्र पञ्चीकृतस्थूलभूतसमुत्पन्नेऽण्डे भूरादयो लोका भवन्ति । अण्डस्यान्तस्त्विमे लोका इति स्मरणात् । आकाशादिष्वप्यनुप्रवेशसत्त्वेऽपि वैशिष्ट्यं जरायुजादावनुप्रवेशस्येत्याशयेन समित्युपसर्गः । संजीवयितुमिति । स ईक्षत कथं न्विदं महते स्यादिति श्रुतेरिति भावः ॥४६॥

अयमेव स्थूलप्रपञ्चो व्यष्टिसमष्टिप्रभेदभिन्नस्थूलशरीरमित्याह—स्थूलेति । तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति छान्दोग्यश्रुतौ, विभागचतुष्टयादर्शनेऽपि लोकप्रसिद्धमिदमित्याशयेनाह—किलेति । ऐतरेयोपनिषत्प्रसिद्धमित्यपि बोध्यम् ॥५०॥

स्वेदजौद्भिदभिदा च जैविकम् ॥५०॥

यथोक्त सभी स्थूल समष्टि रूप से आप का विराट् शरीर है। और व्यष्टितः जरायुज स्वेदज अण्डज और उद्भिज्ज भेद से जीव का शरीर है। ५०॥

त्वयीदमव्याकृतरूपतः स्थितं
यथैव बीजेऽङ्कुरपल्लवादिकम्।
पुनः समुज्जृम्भितमात्ममायया
समस्तमस्तं क्रमते व्यनुक्रमात् ॥५१॥

हे भगवन्! बीज में अंकुरादि के समान आप में पूर्व अव्याकृत रूप से स्थित यह जगत् आप की माया से विलसित हुआ और अन्त में विपरीतक्रम से आप में ही विलीन भी होगा ॥५१॥

सुषुप्तिकाले सकले प्रलीने

दृश्यविषये वक्तव्यं संक्षिप्याह--त्वयीति। तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेत्यादिश्रुतिः बीजस्यान्तरीवाङ्कुर इत्याद्याचार्यवचनं च संगृहीतम्। व्यनुक्रमात्=विपरीतक्रमात् स्थूलं मात्रासु, पृथिवी जले इत्यादिक्रमेण। तथा च लयोऽनेन निरूपितः। वस्तुतस्तु विपरीतक्रमोऽप्युपासनार्थं एव। न हि स्वाप्नपदार्थोत्पत्तौ लये वा कश्चन क्रमो व्यनुक्रमो वाऽस्ति। वक्ष्यमाणप्रलयचतुष्टयविचारे चैतत् स्पष्टं प्रतीयत एवेति परमहंसाः।५१॥

अस्तं क्रमते इत्युक्तं प्रलयविभागेन विवृणोति सुषुप्तीति। सकल

सम्पद्यतेऽयं हि सता त्वयैव ।
खेदापनोदाय दिनस्य भूमन्
नित्यं तमेतं प्रलयं वदन्ति ॥५२॥

सुषुप्ति काल में सभी विलीन हो जाते हैं तब यह जीवात्मा दिन भर की थकावट दूर करने के लिये हे प्रभो ! आप में सम्पन्न (एकीभूत) होता है। यह नित्य प्रलय कहलाता है ॥५२॥

हिरण्यगर्भस्य दिनावसाने
सता त्वया या सह जीवजातैः ।
सम्पत्तिरात्यन्तिकविश्रमाख्या
नैमित्तिकं तं प्रलयं विचख्युः ॥५३॥

हिरण्यगर्भ के दिनावसन में समस्त जीवों के साथ जो सत्सम्पत्ति होती है जिसमें संसार भ्रमण की थकावट

इति । तन्मात्रोत्तर इत्यादिः । एकस्य ब्राह्मकुञ्जरनिवृत्तावपरेषां तद्दर्शनादभरहाविकुरसृष्टिः शरीराख्यादिरिति न तत्प्रयानुपपत्तिर्दोषः । अत्र प्रमाणं दर्शयितुं सुषुप्तिकाल इत्यादिश्रौतान्तरानुकरणमिति बोध्यम् । अयं नित्यप्रलयः ॥५२॥

दिनेत्यादि । सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुरित्यादि वचनात् ब्रह्मणो दिनरात्र्यौ बोध्ये । आत्यन्तिकविश्रमेति । संसारपरिभ्रमणखिन्नप्राणिनामेव । तमिति । अत्र तन्मात्रादिसहितसर्वभूतविलयोऽर्थाज्ज्ञेयः । इममेव नैमित्तिकं प्रलयं वदन्तीति बोध्यम् ॥ ५३ ॥

दूर होती है उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं ॥५३॥

स्वाधिकारविरतौ परमेष्ठी
लीयते त्वयि सहैव सलोकैः ।
मायया हतधियः प्रकृतौ च
प्राकृतं प्रलयमेतमुशन्ति ॥५४॥

ब्रह्मा का अधिकार समाप्त होने पर ब्रह्मलोकवासियों के साथ वे हे भगवन्! आप में विलीन हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। और जो मायामोहितचित्त हैं वे प्रकृति में लीन होते हैं। इसी को प्राकृतप्रलय कहते हैं ॥५४॥

साक्षात्कृते भवति नित्यसुखे तु रज्जु-
सर्पोपमस्य जगतः सकलस्य भूमन् ।
सर्वात्मनैव विनिवृत्तिरिमं निरूचु-
रात्यन्तिकं प्रलयमद्वयबोधमूर्त्ते ॥५५॥

स्वेति। यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणामिति न्यायादधिकार-समाप्तौ परमेष्ठी ज्ञानान्मुच्यते ब्रह्मलोकगताश्चोपासकाः प्राप्तज्ञानाः सन्तः। अन्ये तु प्रकृतौ विलीयन्ते तमिमं प्राकृतप्रलयमाहुः ॥ ५४ ॥

साक्षादिति। अद्वयबोधमूर्त्ते भूमन्निति सच्चिदानन्दस्वरूपतालाभाय सम्बोधनद्वयम्। पुरुषार्थं विशिष्य दर्शयति–नित्यसुख इति। सर्वात्मनेति कारणकार्यादिसर्वात्मनेत्यर्थः। अविद्यारूपेणाप्यनवस्थानमिति समुदितार्थः। विनिवृत्तिरित्यत्र वीत्युपसर्गात्संस्कारात्मनाऽप्यनवस्थानं सूच्यते ॥ ५५ ॥

हे अद्वितीय बोधस्वरूप भूमन्! नित्य सुखस्वरूप आप का साक्षात्कार होने पर रज्जुसर्पसदृश सकल प्रपञ्च की सर्वात्मना निवृत्ति होती है। इसी को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं ॥५५॥

जन्माद्यस्य यतस्त्वदेव तदुपादानं त्वमेव प्रभो
कर्त्ता चेति निमित्तमप्यसि ततः क्वेवान्यदन्यत्र हि।
तस्मिन्नेव च नेतिनेति सकलव्यासेधनान्मन्महे

ननु किमर्थमेतत्सृष्टिप्रलयादिकथनम्। यत्तु जगतः सत्यत्वसाधनाय विश्वं सत्यमित्यादिश्रुत्यन्तराच्चेति। तत्तुच्छम्। आपामारप्रसिद्धसत्यत्वानुवादवैयर्थ्यापत्तेः। ततश्च क्वचिदन्यत्र प्रसिद्धं मिथ्यात्वं निषेद्धुमिदमिति स्वीकर्त्तव्यम्। सा च प्रसिद्धिः श्रुतिष्वेवोररीकार्या। लोकाप्रसिद्धेः। तथा सत्यननुवादकत्वात्ता एव श्रुतयोऽनूद्यमानसत्यत्वबोधकवाक्यानि बाधेरन्। न च हेत्वाभाससाधितमिथ्यात्वनिषेधायेत्यपि युक्तम्। हेत्वाभासैः किं किं न साध्येत तत्तन्निषेधनाय युष्मादृशफल्गुजीवना एव प्रयतेरन्न तु श्रुतिः। न च लयचिन्तनार्था सृष्ट्यादिश्रुतिरित्युक्तमेव पुरस्तादिति वाच्यम्। ज्ञानकाण्डपठितत्वेन फलान्तरस्यापि वक्तव्यत्वात्। उपासनायां व्यावहारिकसद्विषयकत्वस्याप्यनुपयोगात्पृथिव्यादीनामब्रादिषु लयचिन्तनविधानेनैवोपपत्तेः सद्विषयकतया सृष्ट्यादिकथनस्यान्यप्रयोजनपर्यवसायित्वावश्यकत्वाच्चेत्यत आह जन्माद्यस्येति। यतो यस्मात्कारणादस्य जन्मादि त्वत्त एव भवति श्रुतेर्न्यायाच्च तत्तस्मादिति योजना। अन्यार्थमपि यत इति पदं श्रुतिन्यायस्मारणार्थं यथाक्रमं पठितम्। कर्त्ता=उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान्। क्वेवेति। न कार्यं जगदन्यत्र। न वा निमित्तं कारणमन्यत्। तस्मिन्नेवेत्यादि। तथा चाद्वैतप्रतिपादनार्थेन सृष्ट्यादिश्रुतिरिति भावः ॥५६॥

सृष्ट्याद्युक्तिभिरद्वयं तव पदं व्यक्तीचिकीर्षुः श्रुतिः

हे भगवन् ! आप से जगत् का जन्म स्थिति और लय है अतः आप जगत् का उपादानकारण है। और कर्त्ता होने से निमित्त कारण भी है (अतएव आप अभिन्न निमित्तोपादान है) फिर आप में ही नेति नेति से निषेध भी कर लिया। फलतः अन्यत्रजगत् नहीं और आप में भी निषेध किया तो श्रुति जगत् को असत्य सिद्ध कर अद्वैत को ही बताना चाहती है यही हमारा मत है ॥५६॥

द्रव्यं गुणं कर्म तथैव जातिं
विशेषमेवं समवायमेव ।
वैशेषिका यान् विविदुः पदार्था-
स्त्वय्येव मोहात् परिकल्पितास्ते ॥५७॥

कणादेन महर्षिणा प्रोक्तानां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यमानानां षण्णां द्रव्यादिपदार्थानामादरणीयत्वं मन्वानं प्रति स्वावरोधं दर्शयन्नेव तत्प्रयुक्तां द्वैतप्रसक्तिं वारयति—द्रव्यमिति । श्रुत्यनुक्तत्वेन लयचिन्तनाद्यनुपयोगान्नात्रैषा प्रक्रियोरीकृतेति प्रथममेतदनुक्तिः । द्रव्यगुणकर्मणां सत्ताभिसंबन्धात्पृथक्कृत्य कथनम् । तथैव = समवायित्वसाम्यप्रकारतयैव । जातिं विशेषं च विविदुरित्यन्वयः । एवं = भावविधया साम्यात् । मोहात् = मायाख्ययाऽविद्यया । अनुपयुक्तपरिकल्पनं चेदमिति मोहपदेन ध्वन्यते । तथा हि किमर्थं परिगणनमिदम् । न द्रव्यमित्याद्युक्त्याऽनन्तद्रव्यादीनां प्रातिस्विकरूपेण ज्ञानं भवति । सामान्यरूपेण तु पदार्था

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये वैशेषिकशास्त्रोक्त छः पदार्थ भी हे भगवन्! अविद्या से आप में ही कल्पित हैं ॥५७॥

क्षित्यप्कृशानुश्वसनाम्बराणि
कालो दिगात्मा मन इत्यमूनि।
द्रव्याणि यान्येव गुणादिमन्ति
न त्वं तदन्तर्गुणसङ्गहीनः ॥५८॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य गुणादि के आश्रय हैं इनमें आप का अन्तर्भाव नहीं है आप अगुण और असंग हैं ॥

इत्युक्त्यैव ज्ञानं भविष्यति। न हि पदार्थत्वेन रूपेण ज्ञाने सति मोक्षो न भवति द्रव्यत्वादिरूपेण च ज्ञाने सति मोक्षो भवतीत्यत्र किंचिदप्यस्ति मानम् श्रुतावात्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वोक्तेः। न चात्मन एवेतरद्रव्य-गुणादिसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्मोक्षो भवतीति सर्वनिरूपणसार्थ-क्यमिति वाच्यम्। प्रातिस्विकरूपेण सर्ववस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यज्ञानासंभवात्। सामान्यतस्तु पदार्थत्वेन साधर्म्यस्यात्मत्वानात्मत्वाभ्यां च वैधर्म्यस्य सुग्रहत्वात्। सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिश्रुत्युक्तस्वरूपेणैवात्मनोऽवगन्तव्य-त्वाच्च। अध्यासनिवृत्तिप्रयोजकतया पञ्चकोशादिविविक्तं च वेदान्तशा-स्त्रोक्तदिशैव मन्तव्यमलम् ॥५७॥

निर्गुणोऽसङ्गश्चौपनिषद आत्मा न वैशेषिकोक्तनवद्रव्यान्तर्गत इति तद्घटितानां सर्वेषां परमेश्वरे कल्पितत्वमविरुद्धमित्याह—क्षितीति ॥५८॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेर्गुणरूपस्य ज्ञानस्य ब्रह्मरूपत्वात्कथं तद्-

शब्दादिसंख्याद्यभिधानभाजो
विशेषसामान्यगुणास्तदुक्ताः ।
ज्ञानादयश्चात्मगुणाः परात्मन्
द्रव्याश्रिता नासि निराश्रितस्त्वम् ॥५६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा द्रवत्वस्नेह ये विशेषगुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व ये सामान्यगुण हैं। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, अदृष्ट और संस्कार ये आत्मगुण हैं। ये सभी द्रव्याश्रित हैं। आप निराश्रित होने से ये भी आप के स्वरूप नहीं हैं ॥५६॥

टितगुणानां ब्रह्मणि कल्पितत्वमिति चेन्न। वैशेषिकोक्तगुणानां द्रव्याश्रितत्वात्, स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति श्रुतेर्ब्रह्मणश्च निराश्रित्वादित्याशयेनाह—शब्दादीति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा आकाशादिविशेषगुणा द्रवत्वस्नेहादयश्च। संख्यादीति। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वानि सामान्यगुणा इत्यर्थः। ज्ञानादय इति। ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखादृष्टसंस्कारा आत्मविशेषगुणा इत्यर्थः। द्रव्याश्रिता इति स्वरूपकथनम्। तावन्मात्रस्यात्रोपयोगात्। द्रव्यत्वावच्छिन्नयोग्यतानिरूपकाभिसम्बन्धप्रतियोगित्वं वा लक्षणं विवक्षितम्। आकाशादौ क्रियाविरहाज्जातेर्गुणादावपि सत्त्वाद् द्रव्यत्वाभिसम्बन्धयोग्यताया द्रव्यत्वे नानवच्छेदादुत्पन्नविनष्टद्रव्येऽपि गुणाभिसम्बन्धयोग्यतासत्त्वान्नातिव्याप्तिरव्याप्तिर्वा ॥५६॥

संयोगविभागासमवायिकारणं कर्म। नित्यमनेकसमवेतं सामान्यम्।

क्रिया तु संयोगविभागहेतु-
जीतिस्त्वनेकान् समवैति नित्या ।
व्यावर्तका नित्यगता विशेषा
नित्यश्च योगः समवाय उक्तः ॥६०॥

संयोग और विभाग का कारण कर्म है। नित्य तथा अनेकसमवेत जाति है। नित्यद्रव्यमात्रवृत्ति विशेष हैं। नित्यसम्बन्ध समवाय बताया है ॥६०॥

महांश्च कालश्च पुमांश्च विन्दु-
र्नादश्च शक्तिश्च शिवश्च शान्तः ।
अतीत इत्यागमिकोदिताश्च
प्रकल्पितास्त्वय्यखिलेश मोहात् ॥६१॥

महान्, काल, पुरुष, नाद, विन्दु, शक्ति, शिव, शान्त एवं अतीत ये आगमोक्त पदार्थ भी अविद्या से आप में ही कल्पित हुए हैं ॥६१॥

द्रव्यादितः किल गुणादिकमीश भिन्नं

नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिनो व्यावर्त्तका विशेषाः । नित्यसम्बन्धः समवायः । एतेषामुभयसतेऽप्यात्मत्वमप्राप्तम् । एतच्चिन्तनकाले च परमात्मैव विस्मियत इत्याशयेनासम्बोधयन्नेव भगवन्तं तानाह—क्रिया त्वित्यादि ॥६०॥

आगमवाद्युक्तार्थाविरोधमप्याह—महांश्चेति ।६१।

यथोक्तपदार्थेषु कश्चिन्मतभेदं प्रदर्श्य वस्तुगतिं निरूपयति—द्रव्यादित

वैशेषिका जगुरभिन्नविधं च सांख्याः ।
पातञ्जला निजगदुः परमेश भिन्ना-
भिन्नं वयं पुनरनिर्वचनीयमेव ॥६२॥

हे भगवन्! वैशेषिक गुणादि को द्रव्यादि से अत्यन्त भिन्न एवं सांख्यवाले अभिन्न तथा पातञ्जलदर्शन वाले भिन्नाभिन्न मानते हैं। परन्तु हम अपने कथन पर दृढ हैं। ये सब अनिर्वचनीय ही हैं ॥६२॥

एकोऽपि सन् बहुविधः समभूत स्वकीय-
मायावशात् पुनरनन्तविधोऽपि देवः ।

इति। कपालाद्यवयवेष्ववयविनो घटादयः द्रव्ये गुणादयः द्रव्यादित्रिके जातिश्चात्यन्तभिन्नविषया समवायेन वर्त्तन्ते समवायोऽप्यत्यन्तभिन्न एवेति वैशेषिकमतम्। द्रव्यादितो गुणादिकमभिन्नं केचन सांख्या वदन्ति। पातञ्जलास्तु गुणादिकं गुण्यादितो भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वादित्यनुमिन्वाना भिन्नाभिन्नमित्याहुः। न ह्येवंविधमतभेदविकल्पेन वयं विचलामः। किन्तु प्रागुक्तमनिर्वचनीयवादमेवाद्याप्युररीकुर्म इत्याशयेनाह— वयं पुनरनिर्वचनीयमेवेति। एवकारेण प्रागुपदर्शिततत्त्वसूचनात्तत्रोपपादितविश्वस्यैवानिर्वचनीयत्वमिहापि ग्राह्यम्। द्रव्याद्यवच्छिन्नचैतन्यरूपे त्वयि परमात्मन्येव गुणादिकमनिर्वचनीयरूपं भवतीति हृदयम्। उपपत्तिरन्यत्र विस्तरतः ॥६२॥

यथोक्तानिर्वचनीयतायामुपपत्तिसूचनपुरःसरं स्तवकार्थमुपसंहरन् भगवन्तं प्रणमति—एकोऽपीति। बहुविध इति। एकोऽहं बहु स्यामिति श्रुतेः। पुनरनन्तविधोऽपीति। नामरूपे व्याकरवाणीति श्रुतेः उभयमपि ईशजीवयो-

याथार्थ्यतः समधितिष्ठति योऽद्वितीयो
वन्दामहे निरुपमं पुरुषोत्तमं तम् ॥६३॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्यं (स्वामी कार्तिकानन्द) विरचिते वेदान्तसिद्धान्त-कुसुमाञ्जलौ तृतीयः स्तबकः ॥

जो एक होते हुए भी अपनी माया से अनेक एवं अनन्त हो गया और परमार्थतः जो अकेला ही सर्वाधिष्ठाता होकर अद्वितीयरूप से स्थित है, सर्वोपमाऽतीत उस पुरुषोत्तम भगवान् की हम वन्दना करते हैं ॥६३॥

(तृतीयस्तबक का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ)

दृष्टिसृष्टिमात्रमित्यद्वितीय एव परिशिष्यत इत्याशयेनाधिष्ठानतां परमात्मनं आह—याथार्थ्यत इति। समधितिष्ठतीत्यनेन तमर्थमाह—अद्वितीय इति। अद्वितीयत्वादेव—निरुपममिति। निरुपमत्वाच्च पुरुषोत्तममिति।

॥ इति दृश्यनिरूपणम् ॥

इति तृतीयस्तबकसौरभम् ॥



श्री जयमङ्गलाचार्य (स्वामीकाशिकानन्द) विरचिते

वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलौ

चतुर्थः स्तबकः

सदेव देवाखिलमेतदग्रे
तदेकमेवाभवदद्वितीयम् ।

श्रवणफलभूतप्रमाणगतासंभावनानिवर्त्तनौपयिकतया प्रमाणानि मननफलभूतप्रमेयगतासंभावनानिवर्तनौपयिकतया प्रमेयं च निपुणं निरूप्याधुना निदिध्यासनफलभूतविपरीतभावनाविनिवृत्तये साक्षात्कारस्वरूपतत्साधनविचारयोगोपासना निरूपयितुमुपक्रमते सदेवेति । मननं श्रुतार्थविषयकसोपपत्तिकनिश्चायनं विचारस्तु अस्तिभातिप्रियरूपादिना जगतः पृथक्कृत्य परमात्मदर्शनात्मकोऽभ्यासापरपर्याय इति तयोर्भेदो द्रष्टव्यः ।

ननु श्रुतौ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्येकं वाक्यं इह तु तदेकमिति तत्पदेन सत उद्देश्यविधया पृथग्ग्रहणेन एकमेवेत्यादिविधेयस्य पृथक्करणाद् विधेयभेदाद्वाक्यभेद इति वैषम्यमिति चेत् । सत्यम् । इष्ट एवात्र श्रुतौ वाक्यभेदः । दृश्यमानप्रपञ्चस्येदंपदवाच्यस्याग्रकालसद्रूपत्ववत् सतोऽप्यद्वितीयत्वस्याज्ञातार्थत्वेन विधेयभेदावश्यंभावात् । न हि सद्वितीयं सदस्ति यद् व्यावर्त्तकतयाद्वितीयत्वविशिष्टसद्रूपत्वं जगतो विधेयं स्यात् । उपलक्षणमात्रत्वे त्वविधेयतयाऽप्रामाणिकत्वं दुर्वारं स्यात् । अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नत इति कौमारिलवार्त्तिक एकयत्नत्वं नाम स्वाश्रयत्व स्वावच्छेदकत्वान्यतरसम्बन्धेन विधेयतावत्त्वम् । न ह्युपलब्ध-

तस्मादशेषः समभूत् प्रपञ्चः
सच्च त्वमेवाखिललोकहेतो ॥१॥

सृष्टि से पूर्व यह जगत् सत ही था और वह सत् एक ही अद्वितीय था। उसी सत् से समस्त जगत् हुआ और वह सत् हे भगवन्! आप ही हैं ॥१॥

घटोऽस्ति भाति क्षितिरस्ति भाति
भिन्ने घटादौ च मृदस्ति भाति।

णस्य विधेयतावच्छेदकत्वं संभवति। तथा च दृश्यमानजगतोऽग्रकालसद्रूपत्वं प्रथमवाक्येनोच्यते। तादृशदृश्यमानजगत्तादात्म्यापन्नसतश्चाद्वितीयत्वं द्वितीयवाक्येनोच्यत इति दृश्यमानजगदात्मकद्वैतप्रपञ्चवति द्वितीयपदार्थ-तादृशद्वैतप्रपञ्चाभावोक्तेः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणं मिथ्यात्वं जगतः कण्ठोक्तं भवति। शब्दादाहार्यज्ञानमभ्युपेयते। अत्यन्ता-सत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हीति सिद्धान्तात्। तथा चाप्रामाण्यसंश-यानास्कन्दितश्रुत्या बलाज्जगन्मिथ्यात्वज्ञानमेवोत्पद्यते।

वक्ष्यमाणविचारे संशयादिकं मा भूदिति श्रुत्यर्थं मनसि धृत्वा विचारो-पयिकीमुत्पत्तिमाह—तस्मादिति। अत्र सत्पदवाच्यो न तार्किकाद्युक्तसत्ता-जात्यादिरूपः किन्तु चेतनः परमेश्वर एवेत्याह-सच्चेति ननु परमात्मनो यथोक्तसदभिन्नत्वमप्रामाणिकं, तत्त्वमसीति सतो जीवरूपत्वोक्तेरत आह—अखिललोकहेतो इति। यतो वा इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिश्रुत्य-न्तरोक्तजगत्कारणमेवात्राप्युक्तमिति सत्पदवाच्यः परमात्मैवेति भावः ॥१॥

विचारमभिनीय प्रदर्शयति—घटोऽस्तीत्यादि। यथैव सुवर्णकुण्डलं सुवर्णपिण्डं सुवर्णचूर्णमित्येवं सर्वानुगतं सुवर्णं कुण्डलपिण्डादीनां परमं

एवंक्रमाद्यत् परिशिष्यतेऽन्ते
स त्वं हि विश्वेश सदादिबीजम् ॥२॥

घट है भासता है पृथिवी है भासती है इत्यादि प्रतीति होती है। घट फूटने पर मिट्टी है भासती है ऐसी प्रतीति होती है। अस्ति भाति अनुवृत्त रहता है। इस क्रम से अन्त में केवल सत् ही परिशिष्ट रहेगा वही आदि बीज आप हैं ॥२॥

नैवास्तित्वं दृश्यतेऽर्थातिरिक्तं
भ्रान्तिर्नानुस्यूतबुद्धिश्च विष्णो।

कारणं तथैव घटोऽस्ति मृदस्तीत्यादिरीत्यानुगतप्रतीतिविषयभूतं सदादिमं कारणमनुभवसिद्धम्। तच्च सत् परमेश्वर एवेति पूर्वोपदर्शितश्रुत्या गम्यत इति जगत् परमेश्वरात्मकमेवेत्यर्थः। यत्तु सतः कारणत्वे घटध्वंसोत्तरमपि, घटोऽस्तीति प्रत्ययः स्यादस्तीत्येतावन्मात्रप्रतीतिर्वा। तन्न। कपालोऽस्तीत्यस्तिप्रतीतिसत्त्वात्। घटस्य भिन्नत्वेन घटोऽस्तीति प्रत्ययाप्रसक्तेः। न हि कुण्डले विनष्टे पिण्डाकारतामुपेते सुवर्णकुण्डलं वा पिण्डाकारशून्यशुद्धसुवर्णं वोपलभ्यते ॥ २ ॥

ननु घटोऽस्तीत्यादिप्रतीतिविषयभूतं सत् कथं चेतनपरमात्मस्वरूपं जडतादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वादित्यत आह—नैवास्तित्वमिति। नैव दृश्यते तस्माद् दृश्यं नेत्यर्थः। नन्वर्थातिरिक्तविरहान्न दृश्यते न तु दृश्यत्वविरहादत आह—भ्रान्तिरिति। घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्येवमनुस्यूतसत्प्रतीतिर्भ्रान्तिर्न भवितुमर्हति। तथा च घटाद्यनतिरिक्तत्वे घटाननुवर्तनवदस्तित्वाननुवर्तनमपि स्यात्। तथा चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयस्य व्यापकस्य हे विष्णो विज्ञातृरूपपर्यवसानमेवेत्याह—

विज्ञातारं को नु केनैव सन्तं
जानीयात्त्वां प्रत्यगात्मन् कथं वा ॥३॥

हे विष्णो! अर्थ से अतिरिक्त सत्ता का कोई आकार प्रकारादि देखने में नहीं आता। और यह भी कहना ठीक नहीं कि वह सत्ता अर्थ से अतिरिक्त है नहीं, कारण अनुस्यूतरूप से घटपटादि सर्वत्र वह व्यवहार में आता है। असल बात यह है कि वह 'सत्' विज्ञातृरूप है तो विज्ञाता को कौन किस से जान सकता है ॥३॥

अस्तीत्यस्मीत्येवमात्मन् पराञ्चं
प्रत्यञ्चं च त्वामुपाधिप्रभिन्नम्।
एकं सन्तं चक्षतेऽनेकधाऽथोऽ-
खण्डं मध्ये कल्पितार्थव्यपाये ॥४॥

विज्ञातारमिति। सन्तम्=अस्तिपदार्थम्। कथं न जानीयादित्यत्र हेतुगर्भं संबोधनं—हे प्रत्यगात्मन्निति ॥ ३ ॥

ननु विज्ञाता प्रत्यगात्माऽस्मीतिप्रत्ययविषयः कथं घटादावस्तीति-प्रतीतिविषयपराग्भावं प्रतिपद्यतामित्यत आह—अस्तीति। अहमस्मीत्येवं-प्रतीयमानमेव देवदत्तं मैत्रो नाम देवदत्तोऽस्तीत्येवं प्रत्येति। एवं चैकैव सत्ता प्रत्यग्रूपेणास्मीति पराग्रूपेण चास्तीत्यवबुध्यते। तत्राहमस्मि घटोऽ-स्तीत्यादौ सद्रूपात्माऽहंकारेण परिच्छिद्यते घटेन च व्यवधीयते। तथा चैकमेव सन्तं सद्रूपं परिच्छेदकव्यवधायकयोर्नानात्वेन लोका अनेकधा चक्षते, विचारेण च मध्यागतघटकुड्यादिव्यपायेऽखण्डाकाशवदहंकार-व्यवधायकव्यपायेऽखण्डं सन्तं चक्षतेऽखण्डसद्रूपात्मानमनुभवन्तीत्यर्थः ॥४

हे भगवन्! 'वह है' और 'मैं हुं' इस प्रकार पराक् रूप से तथा प्रत्यक् रूप से बाह्य तथा आभ्यन्तर उपाधिभिन्न एक ही सद्रूप आप को अनेक प्रकार से लोग देखते हैं तथा मध्योपाधित्याग से अखण्डरूप से देखते हैं। ४॥

मृज्जन्मा न स्याद्विकारो मृदोऽन्यः
सर्वं वाचारम्भणं नामधेयम्।
सज्जन्मैवं नो सतोऽन्यः प्रपञ्च-
स्तस्मात् सर्वं खल्विदं ब्रह्म सत्त्वम् ।५।

मिट्टी से उत्पन्न घटादि विकार मिट्टी से अन्य नहीं होता सभी वाचारम्भण नाममात्र हैं। वैसे सत् से उत्पन्न प्रपञ्च भी सत् से अन्य नहीं होता। इसलिये समस्त प्रपञ्च सद्रूप ही हैं ब्रह्मरूप आप ही हैं ॥५॥

एवं सर्वस्य जगतः सज्जन्यत्वं विचार्य तस्य सदनन्यत्वं तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति न्यायेन विचारयति—मृज्जन्मेति। यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमितिश्रौतदृष्टान्तानुरोधेन सृष्टेः प्राक् सद्रूपत्वमिव सृष्ट्युत्तरमपि सद्रूपत्वमेव जगतः। तथा च श्रुतिः—सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति। न चैवं सत्सदित्येव प्रतीतिः स्यान्न तु सन् घटः सन् पट इति। घटपटादीनां पृथक्त्वे कथं सन्मात्रत्वमिति वाच्यम्। घटादेर्विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

तत् किं मृद्घटादिवत्समसत्ताकविकारोऽयं ब्रह्मणः प्रपञ्चः? यद्येवं तदा सावयवघटकारणावयवनानात्ववत्सन्नानात्वं तुच्छत्वादिकं च ततः

स्वप्नेऽध्यस्तं यद्वदेवाम्बराद्यं
मायाजालं प्रत्यगात्मन्यसङ्गे ।
तद्वद् दृश्यं व्योमकालादि सर्वं
त्वय्येवेदं तत्र सत्यं तु सत् त्वम् ॥६॥

जिस प्रकार स्वप्न में असंग प्रत्यगात्मा में ही मायामय आकाशादि अध्यस्त हैं इसी प्रकार यह दृश्य आकाशकालादि सभी सत्परमात्मा में अध्यस्त हैं । वही सत् सत्य है ॥६॥

स्वरूपतोऽन्योन्यतया च धर्म-
धर्मिस्वरूपेण तथा यथास्वम् ।
संसर्गसंसर्गितया च सर्व-
मध्यस्तमेतत् त्वयि चित्स्वरूपे ॥७॥

प्रसज्यत इत्यत आह—स्वप्नेऽध्यस्तमिति । तत् सत्यं स आत्मेति श्रुतेराह—तत्रसत्यमिति ॥ ६ ॥

दृश्यमध्यस्तमित्युक्तम् । अध्यासप्रकारा इहोच्यन्ते—स्वरूपत इति । स्वरूपाध्यासः अन्योन्याध्यासः, धर्माध्यासः, धर्म्यध्यासः, संसर्गाध्यासः, संसर्ग्यध्यास इति षडध्यासा भवन्ति । तत्र विषमसत्ताकवस्तुनोऽध्यासः स्वरूपाध्यासः समसत्ताकयोर्विषमसत्ताकतादात्म्येनाध्यासोऽन्योन्याध्यासः । समसत्ताकधर्मस्य विषमसत्ताकतादात्म्येनाध्यासो धर्माध्यासः । किंचिद्धर्मपुरस्कारेण धर्मिण उक्तरीत्याध्यासो धर्म्यध्यासः । समसत्ताकस्य विषम-

कहीं स्वरूपाध्यास, कहीं अन्योन्याध्यास, कहीं धर्माध्यास, कहीं धर्म्यध्यास कहीं संसर्गाध्यास और कहीं संसर्ग्यध्यास इस प्रकार सभी वस्तु चित्स्वरूप परमेश्वर में ही अध्यस्त हैं ॥ ७ ॥

स्वरूपतो विश्वमिदं त्वयीशे
शुद्धे परेऽध्यस्तमखण्डबोधे ।
बाला विहायस्यपि साक्षिभास्ये
प्रकल्पयन्ते तलनीलिमादि ॥८॥

यह विश्व स्वरूपतः अखण्डबोधात्मक शुद्ध परमात्मा

सत्ताकेनोल्लिख्यमानसंसर्गेणाध्यासः संसर्गाध्यासः । उल्लिख्यमानससर्ग-संसर्गिणोरुभयोर्धर्मिविषमसत्ताकत्वे संसर्ग्यध्यास इति विवेकः । उदाहरणानि वक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥

स्वरूपाध्यासमुदाहरति—स्वरूपत इति । विश्वमिदमिति । ननु तत्तेज ऐक्षतेत्यादिश्रुतेः तेजोविशिष्टचेतनादावेव जलादिसृष्टेरुक्तत्वात्कथं विश्वस्य शुद्धचेतनेऽध्यस्तत्वमिति चेन्न । समसत्ताकतया तेजोविशिष्टचेतने जलादिसृष्ट्युपगमेऽपि विषमसत्तया ब्रह्मण्येव सर्वस्य कल्पितत्वात् । न च मायाविशिष्ट एव विश्वकल्पनं मायाया अपि मायाविशिष्टे कल्पनायामात्माश्रयस्यानादित्वेन परिहरणीयत्वादिति वाच्यम् । शुद्धं विनाध्यासस्यैवाप्रसक्तेः । ननु कथमप्रत्यक्षे परमात्मनि प्रत्यक्षात्मकविश्वाध्यास इति चेन्न । ब्रह्मणः स्वतः प्रत्यक्षत्वात् । न चैन्द्रियकघटाद्यध्यासे इन्द्रियप्रत्यक्षताऽधिष्ठानस्यावश्यकीति वाच्यम् । साक्षिभास्येऽप्याकाशे तलमलिनिमाद्यैन्द्रियकाध्यासदर्शनादित्याशयेनाह—बाला इति । आकाशो नीलवर्णवानिति तु संसर्ग्यध्यासोदाहरणम् । अयं सर्प इत्यादिकमपि स्वरूपाध्यासोदाहरणम् ॥

आप में अध्यस्त है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अज्ञानी बाल साक्षीभास्य आकाश में भी तल नीलवर्णादि का अध्यास करते हैं ॥८॥

अन्योन्यतोऽयोऽग्निवदेव जीव-
देहौ तदीयाश्च परस्परस्मिन्।
धर्मा यथैव स्फटिकेऽरुणत्वं
जपासुमीयं त्वयि चेश सर्वम् ॥९॥

लोहा और अग्नि के समान जीव और अहंकार का अन्योन्याध्यास है। और जीवधर्म का देह में एवं देहधर्म का जीव में अन्योन्याध्यास होता है, जैसे स्फटिक में जपाकुसुम की लालिमा। ये सभी हे भगवन्! आप में अध्यस्त हैं॥ ९ ॥

अन्योन्याध्यासमुदाहरति— अन्योन्यत इति। जीवदेहाविति। जीवाहंकारौ मुख्यतया बोध्यौ। अहंकारमुखेनैव च स्थूलदेहादौ। ननु ब्रह्मजगतोरेवान्योन्याध्यासो विषयविषयिणोरन्योन्याध्यासस्य भाष्योक्तत्वादिति चेन्न। चैतन्यस्य सर्वथाऽविषयत्वमाशङ्क्याहंप्रत्ययविषयत्वं ब्रुवता भाष्यकृताऽहमर्थं जीवस्यैव ग्रहणात्। न हि शुद्धब्रह्मणि जगत्यध्यास इति शक्यं वक्तुं तथा सति तस्य मिथ्यात्वापत्तेः। धर्माध्यासमुदाहरति— तदीयाश्चेति। धर्मा द्विजत्वगौरत्वाद्याः शरीरगताश्चेतनत्वादयश्च जीवगताः। नन्वचेतनानां कथं परस्पराध्यासः? जीवस्य चेतनत्वे किं तद् ब्रह्मणोऽतिरिक्तं? तथा सति द्वैतापत्तिश्चेतनत्वविरहापत्तिश्च। ब्रह्मरूपतायां ब्रह्मैवाध्यस्तमित्यायातीत्यत आह— त्वयि चेश सर्वमिति। जीवरूपेण

प्रतीकमीशं विविदुर्भवन्त-
माध्यायिनोऽध्यस्तमिहेश धर्मि ।
प्रलम्भितोऽहं पशुरित्यवैति
मूढोऽत्र धर्मी क्वचनापि धर्मः ॥१०॥

भक्त लोग प्रतीक को भगवान् मानते हैं, यहां धर्मी अध्यस्त है। ठगा गया मूढ अपने को पशु समझता है यहां कहीं धर्मी का और कहीं धर्म का अध्यास है ॥१०॥

घटोऽयमस्तीह तदात्मभावं
संसर्गमारोपयते सतस्ते ।

देहरूपेण परस्पराध्यस्तरूपेण च त्वय्येव सकलमिदं कल्पितमित्यर्थः ॥९॥

धर्म्यध्यासमुदाहरति—प्रतीकमिति। प्रतीकं विष्ण्वादिमूर्त्तिं दृष्ट्वाऽयं परमेश्वर इति भक्तजनोऽवैति न तु वैकुण्ठस्थः परमेश्वर इयं मूर्त्तिरेवेति। न चात्र परमेश्वरत्वधर्ममात्राध्यासः। धर्मितादात्म्यानुभवात्। अत एवार्चावतारप्रथापि। तथा पाशुपताः स्वं पशुं मन्वते। न च पशुत्वधर्माध्यासमात्रमिति वाच्यम्। क्वचन तथापि संभवेऽपि क्वचित्पशुतादात्म्यस्यापि दर्शनात्। केचित्संस्कृतमनसस्तु पशुत्वमज्ञानोपलक्षणं मन्यन्त इति त्वन्यदेतत्। इदं तु बोध्यम्। अन्योन्याध्यासस्थले धर्म्यध्यासनियमेऽपि द्वित्वप्रतीतिर्न भवति। अत एव धर्म्यध्यासादन्योन्याध्यासः पृथक्कृतः इति ॥१०॥

संसर्गाध्यासमुदाहरति—घटोऽयमस्तीति। अस्तीति तिपा तादात्म्यलक्षणः संसर्गः सतोऽभिधीयते। इदं रजतमित्यादौ तादात्म्योल्लेखका-

पुत्रादि मेऽस्त्यत्र च देहिनस्तं
परोक्षरूपे क्वचन भ्रमेऽपि ॥११॥

यह घट है यहां पर सत् के तादात्म्यरूपी संसर्ग का अध्यास है। पुत्रवित्तशरीरादि मेरा है यहां, और हद वह्निमान् है इत्यादि अनुमान में भी संसर्ग का अध्यास है ॥ ११ ॥

अहं सुखीत्येवमहो जनोऽयं
दुःखात्मकं वस्तु सुखं निरीक्ष्य।
संसर्गिणं स्वे परमात्मरूपे
त्वयि प्रभोऽध्यस्यति मूढबुद्धिः ॥१२॥

मैं सुखी हूं इस प्रकार ये मूढजन दुःखरूपी वस्तु को

भावान्न तत्र संसर्गाध्यास उपगम्यते। स्पष्टमुदाहरणान्तरं—पुत्रादीति। तं=संसर्गम्। परोक्षेति पूर्वोक्तम् ॥११

संसर्गाध्यासमुदाहरति—अहमिति। सुखी=सुखवान्। दुःखात्मकं पुत्रवित्ताद्यात्मकं वस्तु सुखकारणं निरीक्ष्य पश्चात्तददर्शनकालेऽपि मनसा चिन्तयन् सुख्यहमिति संसर्गिणमध्यस्यति। न च तदनुचिन्तनप्रयुक्तं वास्तविकं सुखमेवेति वाच्यम्। पुत्रेण ताडितोऽपि रुदन्नपि क्षणानन्तरं मोहसमाकुलः पुत्रसुखवानहमासमस्मि चेति वदतीति तत्र प्रातिभासिकसुखोत्पत्त्यावश्यकत्वात् अन्यथा तत्स्मरणानुपपत्तेः। अकल्पितं सुखादिकं वास्तविके स्वस्वरूपे नास्ति, कुतः कल्पितप्रातिभासिकसुखप्राप्तिरित्याशयेनाह—स्वे परमात्मरूप इति। नीलरूपवद् गगनमित्यादि लौकिकोदाहरणम् ।१२।

सुख समझकर अपने परमात्मस्वरूप में संसर्गी सुख का अध्यास करते हैं ॥१२॥

आरोपितं खमरुदादिकमीश रूपं
रूपं बभूविथ विभो प्रतिरूपभावः ।
एकोऽपि यद्वदनलो भुवनं प्रविष्टो-
नेकाकृतिं समुपयाति यथा च वायुः ॥१३॥

आरोपित आकाश वायु आदि प्रत्येक रूप में सत् रूपी परमेश्वर प्रतिरूप जैसा हो गया । जैसे एक ही वह्नि या वायु भुवन में प्रविष्ट होकर नानाकार हुआ ॥ १६ ॥

स्थूलादिभिस्तिसृभिरीश भवांस्तनूभि-
राच्छादितो निजतनौ परिकल्पिताभिः ।

एवं नानाविधध्यासं निरूप्य प्रकृतं विचारमेव पुनरुपादत्ते—अरोपितमित्यादि । एकोऽपीति काकाक्षिन्यायेन पूर्वोत्तरोभयान्वयि । सदेकमपि आरोपितं घटपटादिकं खमरुदादिकं चान्वीय घटोऽस्ति पटोऽस्ति खमस्तीत्येवं घटपटादि रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपस्य भाव इव भावो यस्य तथाविधो भवति न तु दधीव तक्रनवनीतादिनानाभावं वस्तुतः प्रतिपद्यते । अत एव श्रुतौ रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चेत्युक्तम । वस्तुतोऽसङ्ग एवेति श्रुत्यर्थः । श्रुत्यनुसारेणैकोऽपीत्याद्युदाहरणद्वयम् ॥ १३ ॥

स्वरूपाध्यासेन स्वस्मिन कल्पिताकाशवाय्वादौ संसर्गाध्यासेन प्रतिरूपभावमुपैति परमेश्वर इत्यध्यासद्वयविवेकं पूर्वश्लोके प्रदर्श्याध्यासान्तरविवेकमिदानीमाह—स्थूलादिभिरिति । निजतनौ=निजस्वरूपे । निजतनौ

कोशैश्च पञ्चभिरुपैत्यविधोऽपि विष्णो
नानाविधां कमललोचन जीवभावात् ।१४।

स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों एवं पांच कोशों से आच्छादित हो आप प्रकाररहित होने पर भी जीवभाव से नानाप्रकार होते हैं ।।१४।।

[जीवस्तु नाच्छाद्यत एव गात्र-
कोशैरहंप्रत्ययसाक्षिकत्वात् ।
आच्छाद्यते भूमसुखैकतानः
शुद्धः शिवोऽध्यासवशात्त्वमेव ।.]

स्थूलं शरीरं रसरक्तमांस-
मेदोऽस्थिमज्ज्ञासहितं सशुक्रम् ।
अध्यासतस्तेन पिधीयमानो
जन्मादिमानीश भवान् विभाति ।।१५।।

रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा एवं शुक्ररूपी

जीवे इत्यप्यर्थः संभवति । प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीश इति वार्त्तिकवचनात्प्रतिबिम्बं तनुस्तत्र च बिम्बः स्फुरतीत्यर्थलाभात । विज्ञाने तिष्ठन् आत्मनि तिष्ठन् इत्याद्यन्तर्यामिश्रुतेश्च । कमललोचनेति । कमले हृदयकमले लोचनं दर्शनं यस्य ॥ १४ ॥

स्थूलादिभिरित्युक्तं शरीरत्रयं तत्प्रयुक्तनानाविधाप्राप्तिं च विविनक्ति— स्थूलमित्यादित्रयेण ॥ १५॥

सप्तधातुजन्य स्थूलशरीर से आच्छादित परमेश्वर अध्यास से जन्ममृत्युमान् भासता है ॥१५॥

वागादयश्च श्रवणादयश्च
प्राणादयश्चापि मनश्च धीश्च ।
लिङ्गं वपुस्तच्च दधद्विधत्से
स्वर्गादिलोकेषु गतागतानि ॥१६॥

वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्म-

वागादयश्चेति । सप्तदशकं लिङ्गम् । ननु चित्ताहंकारौ कुतस्त्यक्तौ मनसा तयोः क्रोडीकारे बुद्धेरपि तत्संभवात्षोडशकमेव लिङ्गं स्यादिति चेन्न । धीपदेनात्र बुद्धिप्रयोजकसंस्कारस्य वासनापर्यायस्य ग्रहणात् । मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि मनःपदेनैव संगृहीतानि । अत एव कोशेऽपि मनोमयविज्ञानमयावेवोच्येते । न तु चित्तमयाहंकारमयावपि । सकलवासनावत्त्वेन हि परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वमिति वासनाया बुद्धिपदार्थत्वमविरुद्धम् । न च तर्हि कर्मणोऽपूर्वाख्यस्यापि वक्तुं युक्तत्वात्सप्तदशत्वाऽयुक्तिरेवेति वाच्यम् । फलमत उपपत्तेरित्याद्यधिकरणे परमेश्वरीयमायावृत्त्यतिरिक्ताऽदृष्टाख्यकर्मणो निराकरणात् । ये तु जैमिनिमतेन पृथगेवापूर्वाख्यं कर्मोपगच्छन्ति, त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्येवमर्थविशेषविषयाऽवस्थाविद्यां च पृथगुपयन्ति तेषां मतेन पुर्यष्टकं लिङ्गशरीरमाचार्यैर्विवेकचूडामणावुक्तं— वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च प्राणादि पञ्चाभ्रमुखानि पञ्च । बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं लिङ्गशरीरमाहुरिति । विशकलितस्थितेन्द्रियादीनामेकसूत्रग्रथनौपयिकतयाऽऽकाशादिपञ्चतन्मात्राग्रहणमभ्रमुखादीत्यनेनोक्तम् । प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति श्रुत्यवष्टम्भेन ग्रन्थनहेतोरतिरिक्तस्यानुपयुक्ततेति सप्तदशकवादिमतमिति ध्येयम् ॥१६॥

न्द्रिय, श्रोत्र, त्वचा नेत्र, रसना और घ्राण ये पञ्च ज्ञाने-न्द्रिय, प्राण अपान व्यान समान और उदान ये पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि ये सत्रह लिंग शरीर है। इस को धारण कर जीवभावापन्न परमेश्वर स्वर्गादिलोकों में गमनागमन करते हैं ॥१६॥

अज्ञानमाविश्य च कारणाख्यां
विभासि विज्ञानतनो तनुं त्वम्।
सुप्तो न चावेदिषमीषदद्य
प्रियं सुनिद्रासुखमन्वभूवम् ॥१७॥

अज्ञानरूप कारण शरीर में प्रविष्ट होकर मैं सोया कुछ भी नहीं जाना प्रिय निद्रासुख अनुभव किया इस प्रकार भासित होते हो ॥१७॥

अन्नोद्भवोऽन्नेन च रक्षितोऽन्ने
विलीयमानोऽन्नमयाख्यकोशः।

अज्ञानमिति। अज्ञानरूपां कारणाख्यां तनुं कारणशरीरं प्रविश्य कथं विभासीत्युच्यते—सुप्त इति। ननु 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि'त्यादिश्रुतिपर्यालोचनयोपचयापचयादिमतो मनः-प्राणादिघटितलिङ्गशरीरस्य देहशरीरादिशब्दत्वं युक्तमज्ञानस्य तु तत् कथमुपपद्यत इत्यत आह—प्रियमिति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति श्रुतेः सुषुप्तिकाले प्रियस्पर्शो नाज्ञानस्य शरीरत्वमन्तरा संभवतीति भावः। विस्तरस्त्वन्यत्र ॥१७॥

प्रतीयसे तेन पिधीयमानो
द्विजोऽस्मि वर्ण्यस्म्यसितः कृशोऽस्मि ॥१८॥

अन्न से उत्पन्न अन्न से रचित अन्न में ही विलीन होने वाला अन्नमय कोश है उससे आच्छादित होकर मैं ब्राह्मण हूं ब्रह्मचारी हूं गोरा हूं कृश हूं इत्यादिरीति वही परमेश्वरचैतन्य प्रतीत होता है ॥१८॥

प्राणं सकर्मेन्द्रियपञ्चकं तु
कोशं जगुः प्राणमयाभिधानम् ।
उदीक्ष्यसे तेन बुभुक्षितोऽहं
पिपासितोऽहं भुवि जीवितोऽहम् ॥१९॥

पांच कर्मेन्द्रिय सहित प्राण को प्राणमय कोश कहते हैं। उससे मैं भूखा हूं प्यासा हूं जीवित हूं इत्यादि उत्प्रेक्षा

कोशैश्च पञ्चभिरित्युक्तं कोशपञ्चकं तत्प्रयुक्तनानाभावं च विविनक्ति-अन्नोद्भव इत्यादिना ॥१८॥

स्थूलं सर्वोपष्टम्भकं भोगाधिष्ठानमन्नमयकोशं व्याख्याय स्वपरक्रिया-प्रयोजकं स्थूलादन्तरं प्राणमयकोशमाह-प्राणमिति । न च ऽाटकादिना चक्षुषोऽपीतरक्रियाप्रयोजकत्वात्प्राणमयान्तर्भावो वक्तव्यः । प्राणप्रयुक्त-क्रियाश्रयत्वेन स्वातन्त्र्येण क्रियाविरहो वागादावपि तुल्य इति वाच्यम् । योगप्रयुक्तालौकिकक्रियाशक्तेर्मनश्चक्षुरादिनिष्ठायाः प्राणमयत्वाऽप्रयोजक-त्वात् । उदीक्ष्यते उत्प्रेक्ष्यते । बुभुक्षितोऽहमिति । गच्छामि वदामी-त्यादेरुपलक्षणम् । जीवित इति । जीवप्राणधारणे ॥१९॥

आत्मा में होती है ॥१६॥

ज्ञानेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितं मनो
मनोमयं कोशमुशन्ति सूरयः ।
पश्यामि जिघ्रामि शृणोमि चिन्तया-
म्येवं भवानेव ततो विभाव्यते ॥२०॥

पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित मन ही मनोमय कोश है । उससे देखता हूं सूंघता हूं सोचता हूं इस प्रकार आत्मा प्रतीत होता है ॥२०॥

बुद्धिं सबुद्धीन्द्रियमात्त-
सच्चिच्छायां तु विज्ञानमयं प्रचख्युः ।
युञ्जेऽभिजानामि विनिश्चिनोमी-
त्याभासि तेनापिहितस्वभावः ॥२१॥

ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को जिसमें चैतन्यछाया पड़ती है विज्ञानमय कोश बताया है । समाहित होता हुं

आलोचनाद्यात्मकचाक्षुषादिज्ञानप्रयोजकं मनोमयकोशं प्राणमया-दान्तरं विवृणोति—ज्ञानेन्द्रियैरिति ॥२०॥

प्रमात्मकं मनोमयकोशमुक्त्वा प्रमातृरूपं विज्ञानमयं कोशमाह — बुद्धिमिति । प्रमापेक्षया प्रमातुरन्तरत्वं युक्तम् । कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियमित्येवं विद्यारण्यस्वामिपादैः किंचित् पार्थक्यं मनोमये गदितम् । बुद्धिरध्यवसायलक्षणश्चित्तधर्म इति च मतान्तरं, नात्र विस्तरः क्रियते । युञ्जे = समादधे ॥२१॥

पहचानता हूं निश्चित करता हूं इस प्रकार उससे आवृत होकर आप भासित होते हैं ॥२१॥

आनन्दमात्रां दधती च वृत्तिः
पुण्योद्भवाऽऽनन्दमयाख्यकोशः ।
तेनावृतो भासि सुखी प्रमोदे
मोदान्वितोऽस्मि प्रियसंभृतोऽस्मि ॥२२॥

आनन्द के प्रतिबिम्ब को लिये हुए पुण्यजन्य वृत्ति-विशेष ही आनन्दमयकोश है। हे भगवन्! उससे आवृत हुए आप मैं सुखी हूं, प्रमुदित हूं, मोदयुक्त हूं प्रियसहित हूं ऐसे प्रतीत होते हैं ॥२२॥

मुञ्जादिषीकामिव संप्रवृह्य
धैर्यात्स्वमात्मानमसङ्गमेभ्यः ।

केचित् शरीरत्रये कोशपञ्चकान्तर्भावमाहुः । तत्रान्नमयः स्थूलं शरीरं प्राणमनोविज्ञानमयाः सूक्ष्ममानन्दमयश्च कारणशरीरमिति वदन्ति । तन्न । मरणोत्तरं शरीरप्रत्यभिज्ञानेऽपि आत्माच्छादकत्वविरहेणान्नमयकोशत्व-विरहात् । मनोवृत्तिविशेषादेरेव मनोमयकोशादिप्रयोजकत्वात् । आनन्द-मयकोशस्तु वृत्तिविशेष एव न त्वज्ञानम् । किं च सूक्ष्मकारणशरीरयोर्न चिदादिप्रतिबिम्बघटितत्वं कोशे तु तद्घटितत्वम् । तथा च न्यूनाधिकभावान्न शरीरत्रयान्तर्भावः । तैत्तिरीयश्रुतिवचनानीहानुसन्धेयानि ॥२२॥

एवं शरीरत्रयं कोशपञ्चकं च तत्रान्योन्याध्यासादिप्रयुक्ततत्तद्भावापत्तिं च प्रदर्श्य तेभ्य आत्मविवेचनं संक्षेपेणाह–मुञ्जादिति । स्वमात्मानम्=

प्रक्षीणदोषा यतयो विशुद्धं
भवन्तमन्तर्विनिभालयन्ते ॥२३॥

मूंज से इषीका के समान इन शरीर तथा कोशों से असंग अंतरात्मा को पृथक्कर सर्वदोषशून्य यति आप को ही अंदर देखते हैं ॥२३॥

स्वप्ने न जाग्रद्वपुरीक्ष्यते न वा
जाग्रत्यपि स्वप्नशरीरमीक्ष्यते ।
न वा सुषुप्तावुभयं न सोभयो-

अन्तरात्मानम् । अत्र श्रुतिः—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येणेति । अत्र श्रुतौ शरीरपदं कोशानामपि संग्राहकम् । सकलशरीरकोशाद्यपनये किं स्यादित्युच्यते—प्रक्षीणदोषा इति । अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषा इति श्रुतेः । अत्रापि शरीरपदं पूर्ववत् ॥ ३॥

संक्षेपत उक्तं शरीरकोशविवेकं निदर्शनेन विवृणोति—स्वप्न इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन । तस्य च पञ्चमेनान्वयः । सा=सुषुप्तिः सौषुप्तशरीरमिति यावत् । न च जाग्रति सूक्ष्मशरीरमस्त्येव । जाग्रत्स्वप्नयोश्चाज्ञानलक्षणं कारणशरीरमप्यस्त्येवेति वाच्यम् । स्वप्नशरीरमित्यनेन स्वप्नदृश्यमान-शरीरस्य विवक्षितत्वात् । एवं न किंचिदवेदिषमिति सुषुप्तिप्रतीतसर्वाज्ञानं च न जाग्रत्स्वप्नयोः । नन्वेवं स्वाप्नप्रातिभासिकशरीरस्यात्मत्वनिरासेऽपि प्रसिद्धलिङ्गशरीरस्यात्मत्वं नैतेन निरस्तं भवति । जाग्रति तत्सत्त्वात् । सुषुप्तौ तद्विलयोत्तरमप्यात्मप्रतीतेस्तदन्यत्वमात्मनः सिद्धमियुक्तावपि सुषुप्तौ लिङ्गशरीराभावेऽपि ...

र्न ते समाधौ पृथगीक्षितास्म्यतः ॥२४॥

स्वप्न में जाग्रत्शरीर दीखता नहीं है, जाग्रत् में स्वप्नशरीर नहीं दीखता। सुषुप्ति में दोनों ही शरीर नहीं दीखते तथा जाग्रत् और स्वप्न में सुषुप्ति नहीं दीखती। समाधिकाल में तो तीनों ही नहीं दीखते परन्तु देखने वाला ईक्षिता सर्वदा एकरस रहता है। अतः इन सब से वह न्यारा है ॥२४॥

जन्मास्तिवृद्धिपरिणामपरिक्षयान्ता
भावा भवन्ति वपुषो न तु मे कदाचित्।
साक्षी शिवोऽहमखिलानवलोकयेऽहं
तेषामभावमपि तेन पृथक् ततोऽस्मि ।२५।

मर्थं न जानामि अनन्तकोटिब्रह्माण्डगताननन्तानर्थान्न जानामीत्येवं प्रतीतिसिद्धाज्ञानस्यानुवर्त्तमानत्वादित्यत आह—न ते समाधाविति। ते=जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिदेहाः। ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पमित्यादिपातञ्जलस्मरणान्न समाधिकालेऽज्ञानमस्ति। न चैवं सर्वज्ञाने समाधिकाले स्थूलसूक्ष्मशरीरे ज्ञायेतामिति न ते समाधाविति कथमुच्यत इति वाच्यम्। तदानीं जाग्रत्स्वप्नशरीरप्रतीतौ समाधेर्निर्विकल्पकत्वहान्यापत्तेः। तर्हि सिद्धं तदज्ञानमिति चेन्न। व्युत्थितस्य सर्वार्थज्ञानदर्शनात्। तथा च मिथ्याभूतानां वस्तूनामग्रहणेऽपि नाज्ञानसत्त्वस्वीकारः। व्युत्थाने लेशाविद्याकल्पिताखिलार्थावगतिश्च युक्तैवेति तत्त्वम् ॥२४॥

अनवकलितसमाधीनामप्युपयोगितयेदमुच्यते—जन्मेत्यादि।

जनमना, होना, बढना, विपरिणाम होना, घटना और नष्ट होना ये भाव शरीर के होते हैं मेरे नहीं। मैं साक्षी हूँ। इन सब को और इन के अभाव को भी देखता हूं अतः इन से पृथक् हूं ॥२५॥

नो मे कदापि परलोकगतागतादि
तच्चापि लिङ्गवपुषो न च लिङ्गमस्मि ।
नाज्ञानमस्ति मम नापि तदस्मि सर्वं
पश्याम्यभावमपि तस्य ततः परोऽहम् ।२६।

मेरा परलोकगमनागमनादि नहीं होता, वह तो लिङ्ग शरीर का धर्म है, मैं लिङ्ग शरीर नहीं हूं। मेरा अज्ञान नहीं है और न मैं अज्ञानरूप हूं। मैं इन सबको और इन के अभाव को भी देखता हूं। अतः इनसे अलग हूँ ॥२६॥

अन्नस्य संप्रणयनादि तृषाक्षुधादि
प्राणस्य संशयमुखं मनसो धियश्च ।
भोक्तुः सुखं च तदभावमपि प्रवीक्षे
साक्षी स्वयं स्फुटमतः पृथगस्मि तेभ्यः ।२७।

अन्नमय कोश का बनना बिगडना, प्राणमय की भूख प्यास आदि मनोमय और विज्ञानमय का संशय-निश्चयादि भोक्ता आनंदमय का सुखादि सभी मैं देखता

हूं और इन सबका अभाव भी देखता हूं। मैं द्रष्टा साक्षी हूं। भावाभावरहित हूं, अतः पृथक् हूँ ॥२७॥

इत्थं निरन्तरविचारपरायणस्य
कोशादितः स्फुटतया प्रविवेचितस्य ।
नित्यं निरञ्जनमसङ्गमशेषशेषं
यद् दृश्यते सुखमनन्तमसौ त्वमेव ।२८।

इस प्रकार निरन्तर विचार करते हुए कोश और शरीर से अपना विवेक करने पर जो सर्वनिषेधशेष, नित्य, निरंजन, असंग तत्त्व सुख स्वरूप का अनुभव होता है हे भगवन् ! वह आप ही हैं ॥२८॥

ज्ञानं परोक्षमपरोक्षमिति द्वयं स्याद्
ब्रह्मास्ति सत्यमिति धीः श्रुतिजा परोक्षा ।
ब्रह्मास्मि सोऽहमितिधीस्तु मताऽपरोक्षा
या त्वामधोक्षज निजात्मतयावधत्ते ॥२९॥

ज्ञान परोक्ष तथा अपरोक्ष भेद से दो प्रकार का है। 'ब्रह्म सत्य है' यह परोक्ष है, 'ब्रह्म मैं हूं' इस प्रकार हे परमेश्वर ! आप को अपने आत्मस्वरूप से ग्रहण करने वाला अपरोक्षज्ञान है ॥२९॥

इदानीं यथोक्तविचारलक्षणनिदिध्यासनफलभूतं तत्त्वसाक्षात्कारं विविच्य दर्शयितुं ज्ञानं विभजते—ज्ञानमिति ॥२९॥

तं चाहढं दृढमिति द्विविधं क्रमेण-
संभावनादिसहितं रहितं च भूमन् ।
यस्तु त्वदैक्यविषयः श्रवणेन बोधो
यश्चाप्यसौ समननाभ्यसनेन तेन ॥३०॥

यथोक्त अपरोक्षज्ञान अदृढ एवं दृढ भेद से दो प्रकार है। अदृढ अपरोक्षज्ञान असंभावना विपरीतभावना सहित होता है और दृढ अरोक्षज्ञान असंभावनादि रहित होता है। इनमें प्रथम जीवात्मा परमात्मा की एकताविषयक वेदान्तवाक्यश्रवणजन्य तथा द्वितीय मनननिदिध्यासन-सहित श्रवणजन्य होता है ॥३०॥

परोक्षज्ञानाद् व्यावर्त्यं दर्शयितुं परोक्षापरोक्षविभाग उदीरितः। इदानीमपरोक्षज्ञानेऽपि अदृढज्ञानाद् व्यावर्त्यं दर्शयितुं दृढादृढविभागमाह—तं चेति। वक्ष्यमाणबोधविशेषणत्वात्तमिति पुंलिङ्ग निर्देशः। रहितमिति। अर्थादसंभावनादिरहितम्। आदिपदेन विपरीतभावना। तावेव क्रमेणोदाहरति यस्त्विति। त्वदैक्यविषयः=जीवपरैक्यविषयकः। श्रवणेन=तत्त्वमसीत्यादिवेदान्तवाक्यश्रवणजन्यः। अयं भावः—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादीनामुपनिषद्वाक्यत्वाविशेषेऽपि ब्रह्मात्मैक्यविषयत्वाभावान्नापरोक्षधीजनकत्वम्। दशमोऽस्तीत्यादिवत्। तत्त्वमसीत्यादिवाक्यानां पुनरपरोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यादपरोक्षमेव ततो ज्ञानं जायते। मनननिदिध्यासनयोरसंभावनादिपरिहारकत्वमात्रमङ्गीक्रियत इत्यधस्तान्निवेदितम्। समननाभ्यसनेन=मनननिदिध्यासनसहितेन तेन=श्रवणेन तज्जन्य इति यावत्। इत्थं च मोक्षौपयिकदृढापरोक्षज्ञानकारणीभूतश्रवणसहायकतया यथोक्तविचारात्मकनिदिध्यासनं प्रदर्शितमिति हृदयम् ॥३०॥

अज्ञानमावरणमस्थिरता स्वरूपे
त्वत्तो जनस्य विमुखस्य भवन्त्यवस्थाः
एवं परोक्षमपरोक्षमनर्थहानि-
स्तृप्तिर्निरङ्कुशतरा भवदुन्मुखस्य ॥३१॥

अज्ञान, आवरण विक्षेप ये तीन भगवद्विमुखजन की अवस्थायें हैं। और भगवदुन्मुख महापुरुषों की परोक्ष-ज्ञान, अपरोक्षज्ञान, अनर्थहानि और निरङ्कुशतृप्ति ये चार अवस्थायें होती हैं ॥३१॥

न ब्रह्म वेद्मि न तदस्ति न भाति विश्वं
पश्यामि सत्यमिति हन्त दुरन्तमोहात।
त्वत्तः पराङ्मुखितखोऽन्तिकतोऽपि नाथै-

यथोपदर्शितविचारात्मकनिदिध्यासनफलभूतापरोक्षज्ञानावस्थामेवाधुनेतरावस्थाभ्यो व्यावर्त्य दर्शयितु तदीयं फलं च निरूपयितुमवस्था विभजते—अज्ञानमित्यादि। अस्थिरता स्वरूप इति। विक्षेप इत्यर्थः ॥३१॥

यथोद्दिष्टावस्था एव निदर्शयति—न ब्रह्मेति। न ब्रह्म वेद्मीत्यज्ञानावस्थायाः स्वरूपम्। न तद् ब्रह्मास्ति न तद् ब्रह्म भातीति असत्त्वापादकाभानापादकावरणद्वयमावरणावस्थायाः स्वरूपम्। विश्वं पश्यामि सत्यतया च पश्यामीति विक्षेपावस्थ स्वरूपम्। अहं सुखी दुःखीत्यादिकमप्यत्र ग्राह्यम्। अयमेव च मोह इत्युच्यते। एवंविधावस्थात्रयवानेव पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्निति श्रुतिविषय इत्याह—त्वत्त इति। पराङ्मुखितानि पराङ्मुखीभूतानि खानि

दावृत्तचक्षुरपरो हि निरीक्षते त्वाम् ॥३२॥

मैं ब्रह्म नहीं जानता ऐसी अज्ञानावस्था, ब्रह्म नहीं है भासता नहीं है ऐसी आवरणावस्था, विश्व को मैं सत्य देख रहा हूं ऐसी विक्षेपावस्था ये तीन अवस्थायें मोह है इससे हे भगवन् ! आप से पराङ्मुख हुए इन्द्रियवाले समीपस्थ भी आपको नहीं देख पाते। और वे तो अन्य ही कोई धीर हैं जो अपनी इन्द्रियों को लौटा कर आप को देखते हैं ॥३२॥

असत्त्वमापादयदावृतिं कृती
परोक्षबोधेन धुनोति ते प्रभो।

इन्द्रियाणि यस्य सः। न च भगवद्विमुखस्यैतास्तिस्रोऽवस्था भवन्तीति पूर्वमुक्तम्। तत्कथमधुना एतदवस्थात्रयात्मकमोहात्पराङ्मुखितत्वो भवतीत्युच्यत इति वाच्यम्। पौर्वापर्येण परस्पराश्रिततायां क्षतिविरहात्। एवंविधान्योन्याश्रयता च शास्त्रेषु बहुलं प्रदर्शिता। अन्तिकतोऽपि अतिसंनिधिस्थमपि त्वां नावैत् न जानाति स्म। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् इति श्रुत्यर्थमितरावस्थाप्रदर्शनौपयिकतया संगृह्णाति आवृत्तेति। अपरः साधकः ॥३२॥

एवमवस्थात्रयं निदर्श्य चतुर्थपञ्चमावस्थे व्याख्याति—असत्त्वेति। कृती अपर इति पूर्वश्लोकसूचितो, धीर इति श्रुतिनिर्दिष्टश्च विवेकाभ्यासवान् असत्त्वापादकावरणं परोक्षबोधेन धुनोति। नन्वपरोक्षबोधेनापि तदपनयनसंभवाद् बोधेनेत्येतावन्मात्रं वक्तुं युक्तमिति चेन्न। ब्रह्मणोऽपरोक्षज्ञानस्य परोक्षज्ञानपूर्वकत्वात्प्रथमजातेन तेनासत्त्वापादकावरणनाशात् प्रतिये.गि-

अभानमापादयदायताच्च तेऽ-
परोक्षतश्चावरणं प्रबोधतः ॥३३॥

हे प्रभो आप के असत्त्वापादक आवरण को परोक्ष-ज्ञान नष्ट करता है और अभानापादक आवरण को अपरोक्षज्ञान नष्ट करता है ॥३३॥

तत्त्वज्ञानाद् वासनायाः क्षयाच्च
जीवन्मुक्तः स्यान्मनोनाशतश्च ।

विरहेणैवाऽपरोक्षज्ञानेन तन्नाशाप्रसक्तेः। न च दशमोऽस्तीत्यनुक्त्वा प्रथममेव दशमस्त्वमसीत्युक्ते तत्रापरोक्षज्ञानेनैवोभयविधावरणनाशदर्शनान्न नियमतः परोक्षेणासत्त्वापादकावरणनाशसंभव इति वाच्यम्। अन्यत्र तथासंभवेऽपि प्रकृते तत्त्वंपदार्थशोधनमन्तरा तत्त्वमस्यादिवाक्यतो वाक्यार्थज्ञानायोगात्प्रथमं परोक्षज्ञानध्रौव्यादित्याचार्याणामाशयात्। प्रबोधत इति धुनोति ते प्रभो इति सम्बन्धः ॥३३॥

विचारलक्षणनिदिध्यासनं प्रस्तुतं तस्य परमफलं तु मोक्ष एव तत्पूर्वं च मोक्षं प्रति साक्षात्कारणभूतस्तत्त्वसाक्षात्कारस्तत एव भवति सपरिकर इति तदेव दर्शयन्नन्त्यावस्थाद्वयं च निर्दिशति—तत्त्वज्ञानादिति। तत्त्व-ज्ञानं मनोनाशः वासनाक्षय इति त्रयं जीवन्मुक्तिकारणं विचारवतो जायते। एषां तु न क्रमिकत्वं यत् पूर्वमुत्पन्नं तदपरोत्पत्तौ सहायकं भवति। विस्त-रस्तु जीवन्मुक्तिविवेकादौ। जीवन्मुक्त इति। "अस्पृष्टदुःखं सुखमक्षयं यन्मोक्षं तमाहुः" इति प्राग् विवृतत्वाज्जीवन्मुक्तिपदेनैवात्रानर्थनिवृत्ति-निरङ्कुशतृप्तिलक्षणावस्थाद्वयं निर्दिष्टं भवति। पूर्वं बहुशश्च व्याख्यातमिति किंचिन्मात्रमिह स्पष्टयतीत्यवधेयम्। ननु मुक्ते जीवन्मुक्ते च को भेदः।

एषोऽविद्यालेशतो बाधितं च
विश्वं पश्यन्नप्युपेतो भवन्तम् ॥३४॥

तत्त्वज्ञान, वासनात्रय तथा मनोनाश से जीवन्मुक्त होता है जीवन्मुक्त पुरुष लेशाविद्या के कारण विश्वको देखता हुआ भी परमेश्वर को प्राप्त हुआ ही माना जाता है ।३४।

शरीरे च शास्त्रे च लोके च शार्ङ्गि-
न्नशास्त्रीयशास्त्रीयभेदप्रभिन्ना ।
भवद्वैमुखीं प्रापयन्ती दुरन्ता
कविं च्यावयेद्वासनानन्दबोधात् ॥३५॥

हे भगवन् ! शरीर में शास्त्र में तथा लोक में अशास्त्रीय एवं शास्त्रीय दोनों प्रकार की वासनायें होती हैं । जो समझदार को भी भगवद्विमुख बनाकर आनन्दानुभव से च्युत कर देती हैं ॥३५॥

किं सुखे एव किंचित्तारतम्यमित्याशङ्क्याह—एष इति । लेशाविद्या संस्कार एवेति केचित् । विक्षेपशक्तिमात्रमित्यपरे । विस्तरो वेदान्तमन्दारतर्वादौ । ननु लेशाविद्यासत्त्वान्नायं ब्रह्मप्राप्त इति अनर्थनिवृत्तिर्निरङ्कुशा तृप्तिश्च न घटत इत्यत आह—अप्युपेतो भवन्तमिति ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशेषु तत्त्वज्ञानस्य प्राग्व्याख्यातत्वात्तद्विरहे आनन्दबोधायोगस्य स्पष्टत्वाद् वासनां व्याचष्टे - शरीर इति । शरीरवासना शास्त्रवासना लोकवासनेति वासनात्रयम् । एतच्छेदनाय दृढतरशस्त्रस्यावश्यकतां सूचयितुं शार्ङ्गिन्निति सम्बोधनम् । वासना पुनर्द्वेधा ।

जीवन्मुक्तिपदप्रमेयपरमानन्दं कृतोपास्तयो
विन्दन्त्यस्तमनस्तयाशयचयं तीर्त्वा सकृज्ज्ञानतः।
अन्ये तु श्रवणादिसन्ततसमावृत्त्या निवृत्ताशया-
श्चित्तं च क्रमशो विशीर्य भगवन्नन्ते भवन्तं ययुः ३६

जीवन्मुक्ति के अलौकिक आनन्द को कृतोपास्ति (पहले जिन्हों ने उपासना की हो) मनोनाश तथा वासना

अशास्त्रीयशास्त्रीयभेदात्। विस्तरोऽन्यत्र ॥ ३५ ॥

नन्वपरोक्षज्ञानतत्फलभूतजीवन्मुक्त्योः कियान् विलम्ब इत्याकाङ्क्षायां पुरुषभेदेन द्रुतविलम्बादिनियममाह—जीवन्मुक्तीति। द्विविधाः साधका भवन्ति। कृतोपास्तयोऽकृतोपास्तयश्च। श्रवणपूर्वमस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा यो विहितयोगसाधनोपसानादिः स कृतोपास्तिः। अतथाभूतश्चाकृतोपास्तिः। न च साधनचतुष्टयात् पूर्वं कर्मोपासने प्रदर्शिते एवेति अकृतोपास्तेर्नात्र प्रसक्तिरेवेति वाच्यम्। नियमेन पूर्ववर्त्तित्वाभावात्। अत एव बहिरङ्गसाधनतया प्राङ्निदर्शिते। तत्र कर्मणः परम्परया विविदिषादिहेतुत्वाद् बहिरङ्गत्वम्। उपासनायाश्चात्रोच्यमानविशेषप्रयोजकत्वाद् बहिरङ्गत्वमिति, उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तसंपादितोपासनस्यैव कृतोपास्तिपदव्यपदेश्यत्वाच्च। तत्र कृतोपास्तीनां प्रायो मनोनाशवासनाक्षययोः सम्पन्नत्वात्सकृदपरोक्षज्ञानमात्राजीवन्मुक्त्यानन्दप्राप्तिः। अस्तमनस्तया=मनोनाशेन। आशयचयं तीर्त्वा=वासनाः क्षपयित्वा। सकृज्ज्ञानतः=सकृद्दृढापरोक्षज्ञानतः। अन्ये=जातापरोक्षज्ञाना अप्यकृतोपास्तयः। सन्ततसमावृत्त्येति। ज्ञानोत्तरमपीति भावः। निवृत्ताशयाः=क्षीणवासनाः। चित्तं च क्रमशो विशीर्य=श्रवणादिसन्ततसमावृत्त्यैव कालेन मनो नाशयित्वा। अन्ते भवन्तं ययुः=प्रायो जीवन्मुक्त्यानन्दमनुपलभ्यैव विदेहकाले निवृत्तसकलानर्थपरमतृप्तिसुखात्मकमोक्षाभिधानं परमेश्वरं प्रापुरित्यर्थः।३६।

क्षय होने से केवल एक वार ज्ञान से ही प्राप्त कर लेते हैं। और जो अकृतोपासित हैं वे श्रवणमननिदिध्यासन की आवृत्ति करते हुए धीरे धीरे मनोनाश और वासना क्षयकर वहुकालोत्तर या मरणोत्तर ही परमानन्द को प्राप्त हो सकते हैं ॥३६।

विज्ञातुमिच्छा भगवन् भवन्तं
स्वच्छा शुभेच्छा प्रथमाऽधिकारात्।
श्रुत्वा विचारः सुविचारणा स्या-
दन्तर्मुखत्वं तनुमानसा च ॥३७॥

कृतोपास्तीनामेव तत्त्वज्ञानानन्तरं जीवन्मुक्तिरित्युक्तम्। तत्राप्युपास्तितारतम्याद् भूमिकाभेदा ब्रह्मविद्भिरनुभूताः। तत्र जीवन्मुक्तेः पूर्वं तिस्र उत्तरं च चतस्रो भूमिका इति ता एवाधुना निरूप्यन्ते—विज्ञातुमित्यादि। अधिकाराद्=विवेकादिसाधनचतुष्टयोत्तरमित्यर्थः। अकृतोपास्तेरपि विज्ञातुमिच्छा समाना तथाप्युत्कटत्वं वैशेष्यमित्याशयेनाह—स्वच्छेति। सेयं शुभेच्छा नाम प्रथमा भूमिका। श्रवणस्य सामान्यात्तत्र भूमिकाभेदप्रयोजकमित्याशयेन पूर्वकालार्थप्रत्ययेन श्रवणं निर्दिशति श्रुत्वेति। आविचार इति च्छेदः। आ समन्तान्निवृत्तेतरसकलविचारस्य यो ब्रह्ममात्रविषयकविचारः स आविचारः सुविचारणा नाम द्वितीया भूमिका। अनेन कृतोपास्तीनां मनने निदिध्यासने च वैलक्षण्यं ध्वनितम्। अन्तर्मुखत्वमन्तःप्रवणता। तथा च बहिर्विषयकसंकल्पविकल्पादिलक्षणमनसो नाशः सूचितः। अत एव तनुमानसेति समाख्याया अप्युपपत्तिः। सेयं तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका कृतोपास्तेः। अकृतोपास्तेस्तु तत्त्वज्ञानोत्तरमेव यावज्जीवकृतश्रवणाद्यावृत्त्या सेति द्रष्टव्यम्। जीवन्मुक्तिपूर्वं-

साधन चतुष्टय रूपी अधिकार प्राप्ति के बाद हे परमेश्वर ! आप को जानने की जो विलक्षण उत्कट इच्छा होती है यह प्रथम भूमिका शुभेच्छा है। श्रवणोत्तर जो निरन्तर विचारशीलता है वह सुविचारणा दूसरी भूमिका है। चित्त की अन्तर्मुखता तनुमानसा नाम की तीसरी भूमिका है ॥३७॥

सत्त्वापत्तिस्त्वत्स्वरूपापरोक्षा-
जीवन्मुक्तो ब्रह्मवित्तेन साधुः ।
विश्वं सर्वं स्वप्नवत्पश्यतोऽस्य
स्वप्नावस्था कथ्यते सप्तभूमौ ॥३८॥

हे परमेश्वर ! आप के अपरोक्षसाक्षात्कार से सत्त्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका होती है। उस अपरोक्ष ज्ञान से उपासना रूपी साधन युक्त साधु जीवन्मुक्त होता है

त्वादिमास्तिस्रोऽवस्था एकेन श्लोकेन निर्दिष्टाः ॥३७॥

चतुर्थीं भूमिकामाह—सत्त्वापत्तिरिति। सत्त्वं निर्मलज्ञानमात्मविषयकमखण्डाकारं तस्यापत्तिरनायासेन प्राप्तिः। त्वत्स्वरूपापरोक्षादित्यभेदे पञ्चमी। ज्ञापकपञ्चमी वा। अपरोक्षज्ञानज्ञाप्या सत्त्वापत्तिभूमिकेत्यर्थः। इतरापेक्षयाऽत्र विशेषमाह—साधुः=कृतोपस्तिस्तेनापरोक्षज्ञानेन जीवन्मुक्तो भवति जीवन्मुक्तश्चानन्दभाग् भवति नेतर इत्यर्थः। अस्यां भूमिकायां यद् वैशेष्यं तदाह—विश्वमिति। सप्तभूमौ स्वप्नावस्था न तु साधारणानां प्रसिद्धा स्वप्नावस्था। कथं ?—विश्वं सर्वं स्वप्नवत् पश्यत इति। एतेन पूर्वा भूमिका जाग्रदवस्थेति च सूचितम् ॥३८॥

यही ब्रह्मवित् कहलाता है। समस्त विश्व को वह स्वप्नवत् देखता है। अत एव सात भूमिकाओं में यह भूमिका स्वप्नावस्था कही जाती है ॥३८॥

निर्विकल्पकसमाधिगः क्वचित्
प्रोत्थितः किल सुषुप्तिशीलवत् ।
ब्रह्मविद्वर इतीर्यते ह्यसं-
सक्तिभूमिमुपगम्य पञ्चमीम् ॥३९॥

पांचवीं असंसक्ति भूमिका है। उसे प्राप्त होने पर प्रायः निर्विकल्पक समाधि में ही मनुष्य रहता है। कभी व्युत्थित भी होता है। अत एव सुषुप्तिशील के समान रहता है। उस को ब्रह्मविद्वर कहते हैं ॥३९॥

समाधिस्थः षष्ठ्यां भवदविरतालोकचकितः
सुषुप्तौ गाढायामिव परविबोध्यः क्वचिदपि ।

क्वचित्प्रोत्थित इति। स्वयमेव कदाचिद् व्युत्थितो भवति अधिकतरं च निर्विकल्पकसमाधौ गच्छति। सुषुप्तिशीलवदिति। तथा चेयं सप्तभूमिकासु सुषुप्त्यवस्थेति सूचितम्। असंसक्तिरिति भूमिकानाम। नायं संसारे संसक्तो भवति ॥३९॥

समाधिस्थ इति। प्रायः। व्युत्थानेऽपि नास्य परमात्मदर्शनं हीयत इति विशेषमाह—भवदविरतेति। चकित इत्यनेन परमाह्लादावगमः सूच्यते। तत एव चाविरतं भगवदालोकैकरसोऽपि भवतीति बोध्यम्। सुषुप्तौ गाढायामिति। तथा चेयं सप्तभूमौ गाढसुषुप्त्यवस्थोच्यत इति सूचितम्। सप्तम्यपेक्षयाऽत्र कञ्चन विशेषमाह—परवि-

वरीयान् ब्रह्मज्ञेष्वनुपरतबोधो मुनिवरः
पदार्थाभावन्यां स्थितमतिरवन्यां विचरति ४०

पदार्थाभावनी छठी भूमिका है। इस में हे भगवन्! आप के निरन्तरदर्शन से मनुष्य आह्लादचकित होता है। समाधिस्थ होने से मानो वह गाढ सुषुप्ति में पडा है। कभी कभी दूसरों के जगाने पर जगता है। उस का बोध कभी विस्मृत नहीं होता। वह ब्रह्मविद्वरीयान् कहलाता है, स्थितप्रज्ञ होता है ॥४०॥

तुरीयगायामथ भूमिकायां
भवत्स्वरूपो भृशमप्रबोध्यः।

।बोध्यः कचिदपीति। परेत्यनेन पञ्चमीव्यावृत्तिः। पञ्चम्यां तु स्वत एव कदाचिद्व्युत्थितो भवति। वरीयान् ब्रह्मज्ञेष्विति। अयं ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यत इत्यर्थः। प्रतिबन्धकविशेषेणापि नास्य कदाचिदपि विस्मृतिर्भवतीत्याह—अनुपरतबोध इति। तत् किमिमां भूमिकां सर्वेऽपि कुतोपास्तयः प्राप्नुवन्ति? नेत्याह—मुनिवर इति। उपासनाप्राबल्यदौर्बल्याभ्यां भूमिकाभेदो भवतीति हृदयम्। स्थितमतिरिति। स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। स्थितप्रज्ञशब्दस्य चतुर्थ्यादावपि वृत्तिसंभवेऽपि मुख्या वृत्तिरत्रैवेति भावः। अवन्यां=भूमिकायाम्। समाधिव्युत्थानयोरुभयोः सत्त्वाद्विचरतीति साकूतम् ॥ ४० ॥

अथ जीवन्मुक्तेश्चरमोत्कर्षरूपिणीं सप्तमीं भूमिकामाह—तुरीयगायामिति। तुरीयगेति सप्तम्या भूमिकायाः संज्ञा। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेरत्र चारितार्थ्यमाह—भवत्स्वरूप इति। न स्वतो नापि परतोऽसौ समाहितो व्युत्तिष्ठत इत्याह—भृशमप्रबोध्य इति। न वा सबीजावस्थेयं

सदैव निर्बीजसमाधिनिष्ठो
जयत्यसौ ब्रह्मविदां विरष्ठः ॥४१॥

तुरीयगा सप्तमी भूमिका है। उसमें यति भगवत्स्वरूप होता है। वह कदापि व्युत्थित नहीं होता, हमेशा निर्बीज-माधि में रहता है। ऐसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ की जय है ॥४१॥

योऽयं व्योमाद्यनुगततनुः स्थूलसूक्ष्मादिसाक्षी
साक्षी चेता सदिति विदितः पञ्चकोशाद्विविक्तः।
वीक्ष्यं साक्षाद्विहितमहितोपास्तिभिस्तुर्यगायां

नापि कदाचित् सबीजा कदाचिन्निर्बीजेत्येवंविधा किं तर्हि—सदैव निर्बी-जसमाधिनिष्ठः। असौ ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते। न चास्य पूर्वभूम्यामिव समाधिव्युत्थानयोः संचारोऽपीत्याशयेनाह—जयतीति ॥ ४१ ॥

उक्तमर्थं संक्षिप्य विवृण्वन् भगवन्तं प्रणमति—योऽयमिति। य इत्यनेन परोक्षत्वोक्तिः अयमित्यनेन साक्षात्त्वोक्तिः। तथा च परोक्षोऽपि वस्तुतोऽपरोक्ष इत्यर्थः। व्योमाद्यनुगततनुः व्योमोऽस्ति वायुरस्तीत्येवं व्योमाद्यनुगतसद्रूप इत्यर्थः। तथा च व्यावर्त्तमानेभ्यो व्योमादिभ्यो वस्तुतः पृथग्भूत इति भावः। स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरसाक्षी। तत एव साक्ष्यात् पृथगित्यर्थः। अत्र श्रुतिमुदाहरति साक्षीति। एको देव इत्युपक्रम्य साक्षी चेतेत्युक्त इत्यर्थः। व्योमाद्यनुगतेत्यत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति—सदितीति। सदेव सोम्येदमित्यादिश्रुतिविदित इत्यर्थः। पञ्चकोशाद्विविक्त उपदर्शित-युक्तिभिरेव। एवं प्रथमान्तेन विचारणीयतया दर्शितं संक्षेपेण विवृत्य द्वितीयान्तेन फलभूतं सप्तावस्थान्तर्गतापरोक्षज्ञानं सप्तभूम्यन्तर्गततुरीयगा-भूमिं चाह—वीक्ष्यं साक्षादिति। साक्षादपरोक्षीकरणीयमित्यर्थः। मुनिवर इति विशेषणेन प्रागेव षष्ठभूमिकाप्राप्तिकारणमुपास्तिवैशिष्ट्यं

देवं वन्दे तमनिशविचारोत्थविद्याभिवेद्यम् ।४२।

जो आकाश वायु आदि में अनुगत है, स्थूल सूक्ष्मादि-शरीरों के साक्षी है, 'साक्षी चेता सत्' इस प्रकार श्रुतियों में विदित है, पांच कोशों से पृथक् है, उत्तम उपासना के बल से तुरीयगा भूमि में साक्षाद् दर्शनीय है, निरन्तर विचार से उत्पन्न विद्या से वेद्य उस देव की हम वन्दना करते हैं ॥४२॥

एके विचारविधयैवमवेयुरीश-
मष्टाङ्गयोगपरिपाटिकया परे च ।
अन्ये त्वहंग्रहमुखाभिरुपासनाभि-

सूचितम् । इदानीं सप्तमभूमिकाप्राप्तिनिदानं सूचयन्नाह--विहितेति । विहिता कृता महितोपास्तिः महिता पूज्या महामहिमयुक्ता वा उपास्ति-र्यैस्ते तथाविधैः संपादनीयायां भूमिकायां वीक्ष्यमित्यन्वयः । देवम्= एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति श्रुत्युक्तं सर्वान्तरा-त्मत्वादेव साक्षाद् वीक्ष्यं देवमित्यर्थः । अवान्तरविषयं प्रदर्श्य महाविषयं निर्दिशति--अनिशविचारोत्थविद्याभिवेद्यमिति ॥४२॥

परमेश्वरसाक्षात्कारकारणनिदिध्यासनसहायभूतास्त्रयः विचारोऽष्टाङ्ग-योगोऽहंग्रहाद्युपासना च । तत्र मुख्यत्वात्प्रथमं नामाऽनिर्दिश्यैव विचारः प्रदर्शितः । इदानीममुख्यावितरौ व्याख्यातव्याविति त्रीनपि यथाक्रमं निर्दिशति एक इति । एके=मुख्याः । परे च=मुख्यात् भिन्नास्तथापि तृतीयापेक्षया परत्ववन्तः श्रेयांसो मध्यमा इति यावत् । अष्टाङ्गयोगेति यम-नियमादीनि सविकल्पकसमाध्यन्तान्यष्टावङ्गानि यस्य योगस्य निर्विकल्पक-

रीयुर्महेश्वर परम्परया भवन्तम् ॥४३॥

उपरोक्तरीति अनेक महापुरुषों ने विचार द्वारा परमात्मा को जाना । अन्य कुछ मनीषियों ने अष्टाङ्गयोग की रीति से और इतर साधकों ने अहंग्रहोपासनादि से हे परमात्मन् ! आप को पाया ॥४३॥

याः क्षिप्तविक्षिप्तविमूढसंज्ञिता
ये द्वे तथैकाग्रनिरुद्धलक्षणे ।
आद्यासु भूमिष्वगमन् पुनर्भवं
भवन्तमापुर्यतयोन्त्ययोर्द्वयोः ॥४४।

समाधिलक्षणस्य तत्परिपाटिकयेत्यर्थः । अन्ये = कनिष्ठाः ॥४३॥

अधुना योगमार्गमेव विवरीतुमुपक्रमते - याः क्षिप्तेति । भाष्योदित-क्रमेणैवमुक्तिः। तत्र मूढावस्था पामराणामविदिताध्यात्मतत्त्वानां पशुतुल्यानां केवलविषयैषिणां भवति । न च युक्तयोगानामपि सुषुप्त्यादिमूढावस्थोपगम्यते । उक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहेति वदता भगवता युक्तसुषुप्तेरनुमतत्वेनानपनेयत्वाद् । इह हि मूढावस्था निराकरणीयत्वेनोपदिश्यत इति । विदिताध्यात्मतत्त्वानां प्रयतमानानामपि प्रबलविषयाक्षिप्तमनसां क्षिप्तावस्था । क्षपति वितथीकरोति प्रयत्नमिति क्षिप्तम् । मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धय इत्यत्र कश्चित्पदार्थेतरमूढमनुष्येभ्यो व्यावर्त्य क्षिप्तावस्थापन्ना यतति सिद्धय इत्येवं भगवता निर्दिष्टाः । क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम् । प्रयतमानानां क्षणमवतिष्ठते मनः पुनश्चञ्चलं भवतीत्येवंविधम । एतदेव यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति भगवता प्रतिपादितम् ॥४४॥

जो क्षिप्त विक्षिप्त तथा मूढावस्था हैं और जो एकाग्र तथा निरुद्धावस्था हैं इनमें पहली तीन अवस्थाओं में पुनर्जन्म होता है और अन्तिम दो अवस्थाओं में यति आप को (भगवान् को) प्राप्त होते हैं ॥४४॥

किं पामरा मूढदशामुपेताः
किं क्षिप्तभूमिं विषयप्रलुब्धाः ।
विक्षिप्तचित्ताः किमु साधवोऽपि
द्रष्टुं समर्हन्ति भवन्तमीशम् ॥४५॥

मूढदशा को प्राप्त हुए पामर, क्षिप्तभूमि को प्राप्त हुए विषयलोलुप तथा विक्षिप्तचित्त साधु भी भला क्या आप (परमेश्वर) का दर्शन कर सकते हैं ? ॥४५॥

एतदेवाभिसन्धाय त्रयाणां भगवत्प्राप्तिं निषिध्यति—किं पामरा इति । साधवोऽपि = साधनशीला अपि ॥४५॥

ननु क्षिप्तविक्षिप्तमूढावस्था योगपक्षे न वर्त्तन्त इति भाष्येऽभिहितत्वात् कथं प्रयतमानावस्थाया रुग्णचित्तस्थैर्यावस्थायाश्च क्षिप्तविक्षिप्तभूमित्वमुच्यत इति चेन्न । संप्रज्ञाताऽसंप्रज्ञातसमाध्योरेव योगत्वेन भाष्यकारैर्विवृतत्वात् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति सूत्रव्याख्याने सर्वपदाग्रहणेन संप्रज्ञातसमाधिपरिग्रहं प्रब्रुवता समाधित्वेन प्रसिद्धेतरसाधारणजनकृतयत्किंचिच्चित्तस्थैर्यस्य योगत्वाननुमतिसूचनात् । न चैवं प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनमित्यत्रान्वादेशेन निश्चरन्मनोनियमनपरं पुरुषं परामृश्य योगिनमिति योगित्वविधानं नोपपद्यतेति वाच्यम् । अन्वादेशेन पुरुषमात्रपरामर्शात् । अन्यथा प्रशान्तमनसमित्यनेन विरोधापत्तेः । न हि निश्चरन्मनोनियमन-

प्रमाणमुख्या विनिरुध्य वृत्ती-
रभ्यासवैराग्यवशेन सम्यग् ।
सबीजमासाद्य भवत्समाधिं

काले प्रशान्तमनस्त्वसंभवः । न चैवमपि पूर्वं निश्चरन्मनस एव मुहुः प्रयतमानस्यै प्रशान्तमनस्त्वक्रमेण सुखमुत्तमरुपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूत-मिति भगवत्प्राप्त्युक्तेः किं द्रष्टुं समर्हन्ति भवन्तमीशमिति भगवद्दर्शनाक्षे-पोऽयुक्तः योगसाधनत्वादेव तस्य योगत्वप्रतिक्षेपश्चायुक्त एवेति वाच्यम् । "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रम-त्तस्तदा भवति योगो हि प्रभावाप्ययौ" इत्येवं नचिकेतसमुपदिशता यमराजेन क्षिप्तविक्षिप्तयोर्योगत्वेनाननुगमात् । विक्षिप्तभूमिस्थ एव श्रीमद्भागवते कुयोगीत्युदाहृतः । दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनामिति चोक्तः । क्षणपर्यन्तं हि स्थिरमना दासीपुत्रः पूर्वजन्मीयनारदस्तत्र कुयोगित्वेन लक्षितः । सकृद्दर्शनं तु जातं नारदस्येति समर्हन्तीति समुपसर्गः साभिप्रायः इत्यास्तां विस्तरः । तस्मात् दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनप्रापणीयदृढ-भूमिताकाभ्यासबलेन कश्चिदेव सहस्रेषु स्वाभाविकविषयवैमुख्यप्रवणं प्रशान्तं मनः सम्पाद्यैकाग्रभूमिमारोहति क्रमेण च निरुद्धभूमिमिति त एवात्र निदिध्यासनरूपयोगसम्पन्ना वक्तव्या इत्याशयेनाह—प्रमाणमुख्या इति । प्रमाण विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिलक्षणाः क्लिष्टाक्लिष्टभेदद्वयवतीरित्यर्थः । वृत्तीरित्यन्वयः । मादकवस्तुसेवनादिमुखेन केचन मूढा वृत्तिनिरोधं कुर्वन्ति । तद्वारणाय वीत्युपसर्गः । उपसर्गलक्षितमर्थमेवाह—अभ्यास-वैराग्यवशेनेति । अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति पातञ्जलस्मरणात् । सम्यगिति । दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनात्सम्यक्त्वं बोध्यम् । सबीज-मिति । वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमादिति भावः । तत्र वितर्कः स्थूल-

निर्बीजतायां क्रमशो विशन्ति ॥४६॥

प्रमाणविपर्ययादि वृत्तियों को अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अच्छी तरह रोक कर सविकल्पक समाधि के क्रम से निर्विकल्पक समाधि में, जिसमें परमेश्वर का दर्शन होता है, प्रवेश करते हैं ॥४६॥

आभोगः। विचारः सूक्ष्मः। आनन्दः आनन्दप्रतिबिम्बवद्वृत्तिविशेषः स्वमते। अस्मिता अहंवृत्तिसहित आत्मा। समाधिकाले ह्यनुभूयते सर्वैः सुखमनुभविता चाहमर्थः। स्थूलदर्शनं च सूक्ष्मविषयसहितमेव भवति न हि तन्तुमनुपलभ्य वस्त्रदर्शनं भवितुमर्हति। विवेकस्तु न भवतीत्यन्यदेतत्। दूरादेककेशादर्शनेऽपि केशसमूहदर्शनात्तत्र च प्रत्येककेशदर्शनस्याप्यनिवार्यत्वात्स्थूलोपष्टब्धस्यैव सूक्ष्मस्य दर्शनमिति तन्मात्रादिसूक्ष्माणामतीन्द्रियत्वसिद्धान्तोऽपि न व्याहतः। इत्थं च वितर्के स्थूलादीनां चतुर्णां विचारे त्रयाणामानन्दे द्वयोरस्मितायाञ्च तावन्मात्रस्य विषयत्वमिति सिद्धान्तसंगतिः। निर्बीजतायामिति। अहंवृत्तिसहितात्मनः अस्मितात्वेनानुपदं व्याख्यातत्वात्ततोऽहंवृत्तेरप्यपोहे केवलात्मदर्शनात्मको निर्बीजसमाधिः ॥४६॥

एकाग्रं निरुद्धं च संप्रज्ञातासंप्रज्ञातशब्दाभ्यां निगद्येते। तत्र एकाग्रसमाधिजनितसंस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिर्भवति। प्रतिबद्धापि वासना न नाशमुपैति। तत्त्वसाक्षात्कारं विना सर्वथा वासनानाशासंभवात्। तथा च प्रारब्धकर्मविशेषेण योगजसंस्काराभिभवे अन्यसंस्कारोद्भवे वा तस्य जन्मान्तरं भवति। स च वासनानुसारेण श्रीमतां कुले क्रमेण जायते। योगजसंस्कारमात्रस्योद्भवे योगिनां कुले स जायते। एतच्चोक्तं भगवता योगभ्रष्टमुपक्रम्य—प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीःसमाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽ

समाधिसम्यक्प्रतिबद्धवासनाः
समिद्धबोधा न्यगमन् भवत्पदम् ।
परे पुनर्योगिकुलोद्भवक्रमात्

भिजायते । अथ वा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशमिति । अस्यार्थः—योगभ्रष्टः प्रारब्धोद्भावितविषयसंस्कारः प्रारब्धोद्भावितयोगजसंस्कारश्चेति द्विविधोऽन्तकाले यथोक्तद्वयेऽन्यतरस्मरणवान् । तत्र प्रथमः पुण्यकृतां लोकप्राप्तिक्रमेण श्रीमतां गेहे जायते । द्वितीयो योगिनां कुले जायत इति । इत्थं चैते समाधितो लब्धसाक्षात्कारा: उद्बुद्धविषयवासना उद्बुद्धयोगवासनाश्चेति तेषु द्वितीयकोटीनां विक्षिप्तकोटिप्रवेशार्हत्वात्तान् विहाय प्रथमतृतीय कोटिका निदिध्यासकरूपेणेह वर्ण्यन्ते—समाधीति । निर्बीजसमाधीत्यर्थः । सम्यक्प्रतिबद्धेति । पुनरुद्भवरहिततया प्रतिबद्धेत्यर्थः । न च वासनायाः प्रतिबन्धस्य समाध्यधीनत्वेऽपि तस्याः पुनरुद्भवानुद्भवलक्षणं सम्यक्त्वमसम्यक्त्वं वा प्रारब्धनिबन्धनमेवेति समाध्यधीनत्वोक्तिर्न घटत इति वाच्यम् । प्रमादादिप्रयुक्तप्रयत्नशैथिल्यस्य प्रारब्धप्रसरे छिद्ररूपत्वात् । अन्यथा प्रारब्धविशेषाऽपरिसमाप्तेर्योगसंसिद्धिरेव गगनकुसुमायिता स्यात् । अत एव यतते च ततो भूय इति वदता प्रयत्नाधिक्यापेक्षोक्ता । नन्वेवं कियत्कालपर्यन्तं सावधानतया वर्त्तितव्यमित्यत आह—समिद्धबोधा इति । न च बोधोत्तरमपि प्रारब्धेन वासनोद्भवः कुतो न स्यादिति वाच्यम् । भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर इति श्रुतेः प्रामाण्याद् हृदयग्रन्थिशब्दार्थवासनायाः सर्वथा विनाशेन तदुद्भवस्यैवाऽप्रसक्तेः । प्रारब्धं च वर्त्तमानशरीरतदीयसुखदुःखमात्रदायि तस्यावशिष्यते इति सर्वमुपपन्नम् । न्यगमन् नितरामगमन् । अत्र ब्रह्म समश्नुत इति श्रुतेः । परे=अनुत्पन्नज्ञाना असम्यक्प्रतिबद्धवासना अत एव

परां गतिं प्रापुरनेकजन्मतः ॥४७॥

हे भगवन् ! समाधि से सम्यक्रूप से वासनाओं को रोककर ज्ञानदीप्ति को प्राप्त हुये योगी आप के पद को प्राप्त होते हैं। और जिनकी वासना प्रतिबद्ध नहीं हुई वे फिर से योगियों के कुल में जन्म लेकर अनेक जन्मों में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर परमगति प्राप्त होते हैं ॥४७।

मरणकाले उद्भूतयोगवासनाः। अनेकजन्मत इति। तथा चोक्तं भगवता प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। अस्यार्थः—प्रयत्नाद्यतमानाः = वासनोद्भावकप्रारब्धप्रवृत्तिप्रयोजकीभूतेन प्रमादादिनिबन्धनेन शैथिल्येन विना यतमानाः। अत एव प्रयतमाना इत्येतावन्मात्रेणोपपत्तौ यतधात्वावृत्तिसार्थक्यम्। संशुद्धकिल्बिषः = अभिभावितयथोक्तप्रारब्धकिल्बिषाः। अनेकजन्मेति। ननु अत्र मूले भगवदुक्तौ चानेकेत्युक्तिः कथं घटताम्। भाविनि एकस्मिन्नेव जन्मनि तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिसंभवात्। अन्यथा भाविजन्मोत्तरं तृतीयजन्मस्वीकारे भाविजन्मन्यपि स योगभ्रष्ट एवेति तदनन्तरमप्यनेकजन्मभिर्भवितव्यमित्यनन्ता जन्मपरम्परा स्यादिति चेन्न। वर्त्तमानजन्मादायानेकजन्मेत्युक्तत्वात्। न एक इति विग्रहे जन्मद्वयस्याप्यनेकत्वात्। न च भाविजन्मनीत्येव तर्हि कुतो नोक्तमिति वाच्यम्। भाविजन्मनीत्येकवचने प्रयत्नशैथिल्येनैव तत्रापि परमगत्यप्राप्तावुक्तेरसदर्थत्वापत्तेः। भाविजन्मसु इति बहुवचनप्रयोगे एकस्मिन्नेव परमगतिप्राप्तौ असदर्थत्वध्रौव्यापत्तेः। अनेकजन्मसम्पादितयोगाभ्यासात् समिद्धबोधाः परां गतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अत्र अनेकजन्मत इति समिद्धबोधा इत्यत्रैवान्वितमिति द्रष्टव्यम् ॥४७॥

नन्वष्टाङ्गयोगपरिपाटिकयेत्युपक्षिप्याष्टाङ्गमव्याख्यायैव कथं क्षिप्तादिभूमिक्रमेण समाधिमात्रं व्याख्यातमिति चेन्न। त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदपि

सयमनियमैरासीनैरायतासुभिराहत-

वहिरङ्गं निर्बीजस्य। इति अष्टानामङ्गानां बहिरङ्गत्वोक्तेः साधनमात्रत्वेनामुख्यत्वात्। अष्टमस्य सबीजस्य तु वैशिष्ट्यं मत्वा तद् व्याख्यातमित्याशयवान् वक्तव्यान्येव कर्तृविशेषणतया तान्यङ्गान्युपसंहारव्याजेनोपादाय प्रकरणार्थं च संक्षिप्य भगवन्तं स्तौति—सयमनियमैरिति। न च यमनियमपराः स्थिरासनाश्चेत्यादिना वहिरङ्गसाधनोपन्यासप्रकरणेऽष्टानामङ्गानामुक्तत्वादत्र पुनरुक्तिमात्रमिदमिति वाच्यम्। श्रवणपूर्वकृतानां तेषां बहिरङ्गसाधनत्वेऽपि श्रवणोत्तरकृतानां निदिध्यासनात्मकत्वेनान्तरङ्गत्वात् पृथगुक्तिसार्थक्यात्। अयं भावः। श्रवणात् पूर्वं ब्रह्मस्वरूपज्ञानविरहाज्ञात्मस्वरूपापरोक्षसाक्षात्कारकारणतया तान्यनुष्ठीयन्ते इति बहिरङ्गत्वं तेषाम्। श्रवणोत्तरमात्मस्वरूपापरोक्षज्ञानादपरोक्षसाक्षात्कारार्थमनुष्ठीयमानानां तेषामन्तरङ्गत्वम्। न च तत्त्वमसीत्यादिचतुरक्षरादिश्रवणवदभावप्रयुक्तं नैतावद्वैलक्षण्यं युक्तं वक्तुमिति वाच्यम्। यतो न वयमेतावभावप्रयुक्तं वैलक्षण्यं ब्रूमः। किं वहि? यज्ञदानादिकर्मतत्प्रयुक्तन्मात्रप्रयुक्तमेतावद्वैलक्षण्यं ब्रूमः। किं वहि? यज्ञदानादिकर्मतत्प्रयुक्तभगवत्तोषादिनिमित्तकसाधनचतुष्टयसम्पत्तिसमनन्तरश्रवणस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वात्तादृशापरोक्षज्ञानतदभावप्रयुक्तं वैलक्षण्यं ब्रूमः। तथा च श्रुतिः 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञातेत्यादि। अस्याः श्रुतेरर्थः–शृण्वन्तोऽपि साधनचतुष्टयसंपत्तिहीना यमशेषविशेषविनिर्मुक्तमखण्डैकरसं परमात्मानं न विद्युर्नापरोक्षज्ञानेन विषयीकुर्युः। तैः श्रुतमपि ब्रह्म सविशेषतया सखण्डतया चैव गृह्यत इति भावः। कुशलः=स्ववर्णाश्रमधर्मादिनिमित्तकभगवत्तोषसंपादितसाधनचतुष्टयः। आश्चर्य इति। सहस्रेषु कश्चिदेवेत्यर्थः। न च साधनचतुष्टयसंपन्नविहितश्रवणेनापरोक्षज्ञाने जाते कृतार्थतया किमिति योगानुष्ठानं क्रियत इति वाच्यम्। जातेऽप्यपरोक्षज्ञाने पुरुषापराधमलिनधिषणतयाऽपरोक्षसाक्षात्कारानुत्पत्तेस्तदुपयोगितया योगानुष्ठानसार्थक्यात्।

स्वगवनिवहैर्बद्धस्वान्तैः स्थिरं हृदयाम्बुजे।
विततभगवद्ध्यानैर्युक्तैरबीजसबीजयो-

तथा च व्याख्यातं तं चादृढं दृढमितीत्यादौ। तथा च तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारतेतिश्लोकव्याख्याने सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तदेवासिः खड्गस्तेन छित्त्वैनं संशयं योगं सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानमातिष्ठेति भाष्यकृद्भिरुक्तमपि संगच्छते। सम्यग्दर्शनेन संशयं छित्वा सम्यग्दर्शनोपायं योगं कुर्विति सम्यग्दर्शनस्य साक्षात्त्वाऽसाक्षात्त्वभेदविरहेऽन्योन्याश्रयतापत्तेः। तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्चेतिपातञ्जलस्मरणात् सर्वकर्मणां भगवत्यर्पणस्यैवेश्वरप्रणिधानशब्दार्थताया व्यासभाष्योक्तत्वात्तस्य समाधिहेतुत्वाच्च सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानमिति गीताभाष्यस्य नासंगतिर्न वाऽष्टाङ्गयोगस्यात्रापरोक्षसाक्षात्कारहेतुतयोक्तेर्विरोध इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन। आहृतस्वगवनिवहैः—प्रत्याहृतसकलेन्द्रियैः। बद्धस्वान्तैः स्थिरं हृदयाम्बुज इति। मनो हृदि निरुध्य चेति भगवदुक्तेः। तथा च देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति नाभिहृदयादिसर्वाविशेषेणोक्तापि धारणा हार्दाकाशदर्शनीयभगवत्साक्षात्कारोपयोगितया हृदयदेश एव विशिष्य कर्त्तुं युक्तेति सूचितं भवति। युक्तैरिति। यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदेति भगवद्व्याख्याता युक्तता अत्र विवक्षिता। एतदुक्तं भवति। ध्यानपर्यन्तं तु विक्षिप्तानामपि भवितुमर्हति। विषयप्रवणस्य चित्तस्य तावत्पर्यन्तं स्वाभाविकप्रवाहेण भगवदाभिमुख्यविरहात्। तदुत्तरं चात्मप्रवणं चित्तं स्वाभाविकप्रवाहेणात्माभिमुखं भवतीति युक्तत्वं तेषां सम्पद्यत इति। एतदेवात्मन्येवावतिष्ठते निःस्पृहः सर्वकामेभ्य इति वाक्याभ्यां सूचितम्। अबीजसबीजयोरिति। द्वन्द्वेऽभ्यर्हितपूर्वनिपातेनैवं प्रयोगः। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलवत्त्वाच्च सबीजनिर्बीजयोरित्यर्थो ज्ञेयः। सबीजेऽपि सोपाधि-

र्विमलमवलोकन्ते यं तं पुमांसमुपश्रये ॥४८॥

यमनियमसहित, आसनासीन, प्राणायामपरायण, संयतेन्द्रिय हृदिस्थपरमेश्वरध्यानरत योगी सबीज तथा निर्बीजसमाधि में जिस परमपुरुष का अवलोकन करते हैं उसी के हम आश्रित हैं ॥४८॥

पाप्मनिर्हतफलाद्विचारतो-
नाप्ततृप्तिकलनाः सवासनाः ।

कभगवद्दर्शनं भवत्येव ॥४८॥

मुख्यमध्यमयोर्विचारं योगं चाख्याय कनिष्ठानामुपासनामाचष्टे—पाप्मेति। पाप्मना दुरितविशेषेण अविहितोपासनतया प्रतिबन्धकपापविशेषावशेषादिति भावः। निर्हतं प्रतिबद्धं फलं यस्य तस्माद् विचारतः। कृतेऽपि विचारेऽपरिप्राप्तापरोक्षसाक्षात्कारा इत्यर्थः। अत एव चानाप्ततृप्तिकलनाः अनर्थहानेरप्युपलक्षणम्। येषामनर्थहानिर्निरङ्कुशा तृप्तिश्च न जातेत्यर्थः। अपरोक्षसाक्षात्कारत्वं फलनिश्चेयमिति सूचयितुमिदम्। यदाऽनर्थहानिर्निरङ्कुशा तृप्तिश्च भवति तदैवापरोक्षसाक्षात्कारो जात इति कृतसाक्षात्कारंमन्याः सावधानीक्रियन्ते। न च निर्हतविचारफला इत्यतेन गतार्थता शङ्क्या अपरोक्षसाक्षात्कारमात्रस्य विचारफलतायाः प्राग् व्याख्यातत्वात्। न च तत्त्वज्ञानद्वारा विचारस्य फलमनर्थनिवृत्त्यादिकमपीति वाच्यम्। ज्ञानादेव हि कैवल्यमित्यादिश्रुतिशतप्रसिद्धज्ञानफलात्मकानर्थनिवृत्त्याद्यात्मककैवल्यस्य विचारफलत्वस्वीकारासंभवात्। सिद्धे हि कारणे तदन्यथानुपपत्त्या द्वारकारणं कल्प्यते। न च ज्ञानस्य कारणत्वं कल्प्यम्। श्रुतिसिद्धत्वात् नापि विचारस्य कारणत्वं सिद्धम्। श्रुत्याद्यनुक्तेः। विनापि विचारं योगसमाधिना श्रवणमात्रेण तत्त्वसाक्षात्कारान्मोक्षदर्शनाच्च।

ध्यानयोगमुपगम्य शर्मदं
त्वां परोक्षमपरे प्रपेदिरे ॥४६॥

हे भगवन् ! पापविशेष से विचार करने पर भी जिनका ज्ञान प्रतिबद्ध हुआ है अत एव तृप्ति प्राप्त नहीं हुई, वासनायें नहीं गयी वे मंगलदायी ध्यानयोग से परोक्षतया ज्ञात आपकी शरण में आ गये ॥४६॥

ज्ञानं प्रमाणजमरिन्दम वस्तुतन्त्रं
ध्यानं पुनः पुरुषतन्त्रमिदंसहायम् ।
ध्यानेन निर्लुठितदोषतुषं पुमांसं

द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति दर्शनसाधनत्वस्यैव श्रुत्यादौ दर्शितत्व.च्च । इदं तु बोध्यम् । अत्रत्योत्तरं विचारस्तु कर्तुं योग्य एव । ततः फलाप्राप्तौ उपासनोपक्रमणीया । अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेदिति प्रथममकरीक्षाया न्याय्यत्वात् । अत एव विचारं सिद्धवत्कृत्य पाप्मनिर्हतफलाद्विचारत इति फलानुत्पत्तिमात्रमुपासनाप्रवृत्तिप्रयोजकत-योक्तमिति ध्येयम् । कुतः फलनिर्हननं यदपनयनायोपासनादरणीयेत्यतो विशेषणं—सवासना इति । शर्मदं प्रतिबन्धकीभूतवासनापनयनहेतुत्वात् । परोक्षं=परोक्षकल्पम् । अपरे=अष्टाङ्गयोगेऽप्यसमर्थाः । प्रपेदिरे=शरणमागताः ॥ ४९ ॥

ज्ञानध्यानयोर्भेदं दर्शयन्नेव फलोद्भवप्रकारमाह—ज्ञानमिति । वस्तुतन्त्रं पुरुषतन्त्रमित्येतावन्मात्रं ब्रुवता समानविषयत्वं सूचितम् । तच्च पञ्चदश्यादौ स्फुटम् । बोधस्तु वाक्येनैव सद्यःश्रुतेन पूर्वश्रुतस्मृतेन वा । अरिदंम=हे दोषारिहारिन् ॥५०॥

वाक्यं प्रबोधयति नाथ भवन्तमीशम् ।५०।

हे भगवन् ! ज्ञान प्रमाणजन्य तथा वस्तुतन्त्र है। ध्यान पुरुषतन्त्र तथा परोक्षज्ञानोपकृत है। ध्यान से दोष नष्ट होने पर वाक्य आपका बोध कराता है ॥५०॥

स्वस्वगोलकतलस्थितानि चे-
दिन्द्रियाणि जनयन्ति वेदनम् ।
जाग्रदित्यभिनिगद्यते बुधै-
र्विश्वतामिह भवानुपैति चित् ॥५१॥

अपने अपने गोलक में स्थित होकर इन्द्रियां ज्ञान उत्पन्न करें तो वह जाग्रत् अवस्था है। इस का अभिमानी चैतन्य विश्व कहलाता है ॥५१॥

इन्द्रियेषु विलयं गतेष्वथो
केवले च मनसि स्थिते सति ।
वासनावशसमुद्भवं जगत्
स्वप्नमाहुरिह तैजसो भवान् ॥५२॥

इन्द्रियां विलीन हो और केवल मन रह जाय तो

इदानीं मुख्यां प्रणवोपासनां वक्तुमक्षरार्थादिकं ब्रवीति-स्वस्वेत्यादिभि-रष्टभिः। एषां संक्षेपेण व्याख्या:—इन्द्रियाणि=बहुतरेन्द्रियाणि। केषां-चिज्जाग्रत्यपि विलयात्। विश्वतामिति। समष्टिवैश्वानरश्च प्रागुव्याख्यात:। एवमुत्तरत्र। विलयं=मनसि विलयम्। समुद्भवमिति। अथ स्थान्

उस समय वासना से जो जगत् उत्पन्न होता है वह स्वप्न है और अभिमानी चैतन्य तैजस कहलाता है ॥५२॥

सहेन्द्रियैश्चित्तमपि प्रलीनं
भवेद् यदाऽज्ञानमहापयोधौ ।
सुषुप्तिमेतां निगदन्त्यवस्थां
प्राज्ञो भवानत्र विभाति देव: ॥५३॥

इन्द्रियसहित चित्त जब अज्ञानसागर में विलीन होता है तब सुषुप्ति अवस्था होती है। अभिमानी चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है। ५३॥

तिस्रोऽप्यवस्थाः समतीत्य माया-
संख्यातुरीयात्मतया स्थितस्त्वम् ।
वेदेषु शास्त्रेषु च जीवसाक्षी-
त्युदीर्यसेऽशेषविशेषशून्यः ॥५४॥

जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को पार कर संख्या पूरक न होते हुए मायासंख्यानुसार चतुर्थरूप से स्थित आप (परमेश्वर) ही वेदों में तथा शास्त्रों में जीवसाक्षी कहा, जो यथार्थतः सर्वविशेषशून्य है ॥५४॥

पथ: सृजतीतिश्रुतेरुद्भवः पूर्नमुक्तः। मायासंख्येति। अशेष.विशेषशून्यत्वाद् व्यवहारार्थमियं कल्पनेति भावः। मायासंख्यातुरीयमिति चाचार्याः।

अयं नाम विश्वो विराट् सोऽप्यकारो
भवेत्तैजसः सूत्रमेषोऽप्युकारः ।
विदुः प्राज्ञमीशं स च स्यान्मकार-
स्तथा जीवसाक्षीशसाक्षी ह्यमात्रः ॥५५॥

यह विश्व वस्तुतः विराट् से अभिन्न है विराट् ही अकार है। तैजस सूत्रात्मा से अभिन्न है और वह उकार है। प्राज्ञ ईश्वर से अभिन्न है वह मकार है। जीवसाक्षी ईशसाक्षी से अभिन्न है वही अमात्र है ॥५५॥

अकारो ह्युकारः स च स्यान्मकारो
मकारस्तथोंकार एवेति रीत्या ।
विलाप्याखिलं विश्वमोंकाररूपे
त्वयीशान शान्तिं लभन्ते महान्तः॥५६॥

अकार ही उकार है उकार मकार ही है और मकार

इत्थमेवास्य प्रामाणिकव्यवहारोपीत्याह—वेदेष्विति । अक्षरार्थमभिधायो पासनाप्रकारमाह—अयमिति । विश्वादिशब्देनोपाधिभूतस्थूलजगदादेरपि परिग्रहान्नाखिलं विश्वं विलाप्येत्युत्तरविरोधः। अर्धमात्राया जीवसाक्षी ईशसाक्षी च कल्पितसमष्टिव्यष्टिभावेनार्थः। अमात्रोऽर्धमात्रेत्याद्योंकारस्यैव नाम। मकार ॐ कारे इति पञ्चीकरणोक्तेः। मकारोत्तरं घण्टानादवत्प्रसरद्ध्वनिर्भवति। तयोः सन्धिरर्धमात्रा। तत्रैवोमित्यस्य विलयादोंकाररूपत्वोक्तिरित्यपि मतम्। ॐ काररूपे त्वयीति। वाच्यवाचकाभेदात्तथैवोपास्य-

ओंकार है इस रीति सारे विश्व को ओंकाररूपी परमात्मा में विलय कर महान् पुरुष शान्ति प्राप्त करते हैं ॥५६॥

सम्बोध्य चित्तं प्रलये प्रसुप्त्या
विक्षिप्यमाणं प्रशमय्य सन्तः ।
ज्ञात्वाऽऽशयं चैव कषायसंज्ञं
भजन्त्यनास्वाद्य रसं भवन्तम् ॥५७॥

निद्रा तन्द्रा आदि से लय होने पर चित्त को जगा कर, विक्षेप होने पर उसे शान्त कर, कषायरूपी वासना को पहचानकर रसास्वाद किये बिना सन्त आपका भजन करते हैं ॥५७॥

एकाक्षरं ब्रह्म सदा जपन्तः
सोऽहंधिया ब्रह्म विभावयन्तः ।
भवन्तमन्तर्हृदि वीक्ष्य सन्तः
पूर्णे निमज्जन्त्यमृताम्बुराशौ ॥५८॥

त्वात् । उपासनायामावश्यकं कर्त्तव्यमाह—संबोध्येति । लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः । सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् । नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेदिति गौडपादकारिकातद्भाष्यादिकमिहानुसंधेयम् । एकाक्षरं ब्रह्म= ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । सोऽहंधियेति । स ॐकारस्तदर्थो ब्रह्म चाहमेवेतिधियेत्यर्थः । तथा च वार्त्तिकं :—परमानन्दसन्दोहवासुदेवोऽहमोमिति । तज्जपस्तदर्थभावनमिति पातञ्जलस्मरणाज्जपस्यापि सिद्धिरिति बोध्यम् ॥५१—५८॥

एकाक्षर ओंकाररूपी ब्रह्म का सदा जप करते हुए वही मैं हूँ इस प्रकार सोऽहं भावना रखते हुए आपको हृदय में सन्त लोग देख कर पूर्ण अमृत सागर में गोता लगाते रहते हैं ॥५८॥

सच्चित्स्वरूपेण परं भवन्त-
मस्थूलताद्यैश्च परे विदित्वा।
तद्भावनाभावितशुद्धबोधा
ब्रह्मस्वरूपा अमृता बभूवुः ॥५९॥

अन्य उपासक सच्चिदानन्दरूप से एवं स्थूल अनणु आदि रूप से भगवान् की उपासना कर उसी भावना से तत्त्वबोध प्राप्त करते हैं एवं ब्रह्मरूप हो कर अमृत (मुक्त) होते हैं ॥५९॥

सर्वं संचितकर्म नाशमुपसंयाति प्रबोधोदया-
न्नश्लिष्येत्क्रियमाणमीषदपि चागामीति यत्प्रोच्यते

'आनन्दादयः प्रधानस्य' अक्षरधियां त्ववरोध. सामान्यतद्भावाभ्यामौ-पसदवत्तदुक्तम् इति न्यायदर्शितरीत्या उपासनान्तरमाह—सच्चिदिति। सच्चिदानन्दादिविधिमुखेनास्थूलत्वादिनिषेधमुखेन चेत्यर्थः। विदित्वा= उपास्य। तद्भावनेति। तया उपासनलक्षणया भावनया समुत्पन्नसाक्षात्कारा इत्यर्थः ॥५९॥

इहैव विचारेण योगोपासनाभ्यां वा जातापरोक्षसाक्षात्कारस्य कर्म-बन्धननिवृत्तिपूर्वकविदेहकैवल्यं कया रीत्या भवतीत्युच्यते—सर्वमिति।

प्रारब्धं स्वफलप्रवृत्तमितरे भोगैकभागित्वयं
भुक्त्वा तद्भवदीयधाम परमं मोक्षाभिरामं ययुः ६०

ज्ञानोदय से समस्त संचित कर्म नष्ट होते हैं क्रियमाण कर्म, जिसको आगामी भी कहते हैं, लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता। हां भोगमात्र से क्षय होने वाला प्रारब्ध कर्म जो फल देने के लिये प्रवृत्त हुआ है भोगना पडता है उस के वाद भगवत्धाम, जो मोक्षरूप होने से अभिराम और उत्कृष्ट है, प्राप्त होता है। ॥६०॥

अत्राविज्ञातस्वरूपा अपीह

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति न्यायादिवि भावः। प्रारब्धमिति। भोगेन त्वितर इत्यादिन्यायादिति भावः ॥६०॥

अत्रेत्यादि विचारयोगोपासनात्रितयसाधारणम्। विशुद्धसत्त्वस्यापि विचारपरिपाकात्प्रागेव शरीरपातसंभवात्। न च तर्हि वामदेवादिवज्जन्मान्तरमेव भवेदिति वाच्यम्। वासनाक्षयमात्रे जन्मान्तरासंभवात्। उक्तं च प्राक् वासनाक्षयतत्त्वज्ञानमनोनाशानामनियतपौर्वापर्यम्। तथा च श्रुतिः—वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे इति। शुद्धसत्त्वा इत्यनेन वासनाराहित्यमुक्तम्। सुनिश्चितार्था इत्युक्त्याऽपरोक्षसाक्षात्कारापर्यवसानं सूचितम्। योगिनां तु तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीत्यादिश्रुतौ श्रीमद्भगवद्गीताष्टमाध्याये च सूर्यद्वारेण ब्रह्मलोकावगतिः स्पष्टमुक्ता। विद्यया ब्रह्मलोक इत्यादिश्रुतेरुपासकानां तु ब्रह्मलोकप्राप्तिः प्रसिद्धतमा। तत्र विचारोऽपि ब्रह्मानुसन्धाननियतत्वादुपासनाकल्प एव। तथा एकाग्र-

ब्रह्मोपास्त्या ब्रह्मलोकं प्रपद्य ।
तत्र ज्ञातस्वस्वरूपा विमुक्ता
नावर्त्तन्ते मानवावर्त्तमेतम् ॥६१॥

कदाचित् यहां तत्त्वसाक्षात्कार न होने पर भी ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म लोक प्राप्त कर वहां प्रबोध प्राप्त कर लेते हैं और मुक्त हो कर फिर लौटकर इस मर्त्यलोक में नहीं आते हैं । ६१ ।

अहंग्रहोपासनया विदुर्यं
गुणैः परोपासनया च सन्तः ।

तालक्षणयोगोऽपीति त्रीनपि समुच्चित्यैकेन शब्देनाह—ब्रह्मोपास्त्या इति । उपासकानां ब्रह्मलोकगमननैयत्यं तु नास्ति । अत्रापि ब्रह्मज्ञानोदयसंभवात् । अत एव "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति "तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम" इति च श्रुतिद्वयं प्रवृत्तमित्याशयेन अत्राविज्ञातस्वरूपा इति विशेषितमिति ध्येयम् । ननु ब्रह्मलोकगता अपि पुनरावर्त्तेरन् तत्त्वज्ञानाभावादेव । क्षीणवासनानामपि सर्वथा वासनानाशाभावादत आह—तत्र ज्ञातेति । नावर्त्तन्ते इति । एतं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते न स पुनरावर्त्तते यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते अनावृत्तिः शब्दादित्येवंविधश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्य इति भावः ॥६१॥

प्रकरणार्थं संक्षेपेण श्रुत्यारूढं कुर्वन् भगवन्तं स्तौति—अहंग्रहेति । गुणैः श्रौतैर्गुणैः । यं विदुः पुरुषं महान्तम् । तथा च सहस्रशीर्षा पुरुष इत्येवमुपासनमुपक्रम्याह श्रुतिः—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः

उपास्महे तं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६२॥

अहंग्रहोपासना से या सहस्रशीर्षत्वानन्दत्वअस्थूलत्वादिगुणविशेषपूर्वकपरब्रह्मोपासना से सन्त लोग जिस को जान लेते हैं, अज्ञान से दूर स्वयंप्रकाश उस महान् पुरुष परमात्मा की मैं उपासना करता हूँ ॥६२॥

विचारतः सहजसमाधिमान् हि यं
निरोधतः सविधसमाधिमानपि ।
उपासनान्नियमसमाधिमानुत
प्रपद्यते तमहमुपैमि पूरुषम् ॥६३॥

परस्तादिति । अहं—सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तक्रमेण विहितोपासन ऋषिः । वेद = उपासनापास्तसमस्तप्रतिबन्धतया जानामि । आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम् । तमसोऽज्ञानात्परस्तादिति श्रुत्यर्थः । श्रुतिवर्णोपादानेन तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यपि स्मारितमिति बोध्यम् ॥६२॥

स्तबकार्थं संक्षिप्य सर्वथाप्यावश्यकं समाधिं द्योतयन् पुनर्भगवन्तं स्तौति—विचारत इति । सहजसमाधीति । यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय इति प्रसिद्धः सहजसमाधिः । निरोधतः=चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगेन । सविधसमाधिमानिति । तथा च पुष्पदन्ताचार्यः—मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायेत्यादि । नायं पूर्ववदविशिष्टसमाधिः । किन्त्वासनप्राणायामादिप्रकारविशेषपूर्वक इति सविधसमाधिरित्युच्यते । नियमसमाधीति । विचारे देशकालादिनियमो नास्ति । व्यक्तं चैतच्चित्रदीपे न चासनप्राणायामादिविधाः किन्तु नियमानुष्ठानमात्रमिति तथा नाम ॥६३॥

विचार से सहजसमाधि को निरोधयोग से सविधसमाधि को या उपासना से नियमसमाधि को प्राप्त हुए पुरुष जिस (परमात्मा) को प्रपन्न होते हैं उस भगवान् की शरण में मैं भी आगत हूँ ॥६३॥

योऽसाध्यः सन् साध्यते साधनौघै-
र्यो वाऽमेयो मानसामान्यमेयः ।
योऽसंदृश्योऽभ्याससंदर्शनीयोऽ-
वन्द्यं वन्देऽपूरुषं पूरुषं तम् ॥६४॥

असाध्य होने पर भी विवेकादिसाधनसाध्य है, अमेय है फिर भी प्रत्यक्षादिप्रतिबोधविदित है, दृश्य नहीं है फिर भी अभ्यास से द्रष्टव्य है, अवन्द्य है फिर भी अतद्व्यावृत्त्या वन्दनीय है, पुरुष नहीं फिर भी पूर्णपुरुष है उस भगवान् की वन्दना करता हूँ ॥६४॥

प्रथमस्तबकोक्तसाधनसाध्यत्वस्य द्वितीयतृतीयोक्तप्रमाणप्रमेयत्वस्य चतुर्थोक्तदृश्यत्वस्य च परमात्मनि स्वीकारे तस्य जन्यत्वं परिच्छिन्नत्वं मिथ्यात्वं चापद्यत इत्यतः शास्त्रतात्पर्यं संक्षिप्य भगवन्तं पुनः स्तौति योऽसाध्य इति । अविद्याप्रयुक्ताऽविद्यमानत्वेन साधनैरविद्यापनयनात्मकंसाध्यत्वं प्राप्यत्वं वा अज्ञानावरणापनयादिना मेयत्वं असंभावनापनयनादिना संदर्शनीयत्वं च घटत इति सर्वं समञ्जसम् । किं च स्तुतिशब्दाऽवाच्योऽप्यतद्व्यावृत्त्या स्तुतिबोध्यत्वाद् वन्द्यं न स्त्री प्रमानिति श्रुतेरपुरुषमपि पूर्णत्वात् पुरुषं च वन्द इत्यर्थः ॥६४॥

वेदाः समे यत्पदमामनन्ति
योगास्तपांस्येव यदा यन्ति ।
उपासते ब्रह्म यदिच्छया तत्
पदं प्रपद्ये पुरुषोत्तमस्य ॥६५॥

समस्त वेद जिसको कहते हैं, योगतपस्यादि जिसे प्राप्त कराते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मोपासना करते हैं उस पुरुषोत्तमभगवत्पद को मैं प्राप्त होता हूँ ॥६५॥

यो मृत्योरसतो हि सद्गमयते पूर्णं स्वरूपामृतं
योऽविद्यातमसः समं गमयति ज्योतिःप्रबोधाभिधम्
दुःखाब्धेःसहसोद्गमय्य नयति स्वानन्द पाथोनिधिं
सोऽयं श्रीशपदार्पितो विजयते वेदान्तपुष्पाञ्जलिः

इति श्री नयमङ्गलाचार्य (स्वामी काशिकानन्द) विरचिते वेदान्त-सिद्धान्तपुष्पाञ्जलौ चतुर्थः स्तबकः । समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

इदानीं शास्त्रपरमतात्पर्यमतिसंग्रहेण वदन् पुनः स्तौति—वेदा इति । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतदिति श्रुतेः सर्वशास्त्रसाधनादि-परमतात्पर्यविषयीभूतं पुरुषोत्तमपदं प्रत्यस्तमिताशेषविशेषमखण्डसच्चिदा-नन्दघनं नित्यशुद्धादिलक्षणं ब्रह्म प्रपद्य इत्यर्थः ॥६५॥

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमयेत्यादि-श्रुत्यर्थं संगृह्णन् ग्रन्थप्रशस्तिं करोति—यो मृत्योरिति ॥६६॥

जो मृत्युरूपी असत् से पूर्ण स्वरूपामृतात्मक सत् को प्राप्त कराता है, जो अविद्यारूपी तम से प्रबोधरूपी ज्योति पहुंचाता है, दुःखसागर से उठाकर आनन्दाम्बुधि ले जाता है भगवदर्पित उस इस वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलि की जय हो ॥६६॥

(वेदान्तसिद्धान्तकुसुमांजलि का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ).



अव्यक्तं क्वापि भावार्थमभिव्यञ्जयितुं मया ।
कृतं वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिसौरभम् ॥१॥
संक्षेपेणैव कथितं सर्वं विस्तरतः पुनः ।
वीक्ष्यं वेदान्तमन्दारतरौ तद्विवृतावपि ॥२॥

इति वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिसौरभम्



ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्त्तये नमः ॥

———



पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३	२०	समस्तेय	समस्तेषुयत्
४	८	रज्जुभुवङ्गविभ्रमम	रज्जुभुवङ्ग विभ्रमम्
,,	,,	स्व-सप्रतिष्ठः	स्वसम्प्रतिष्ठः
,,	१६	व्योमघनु	व्योमाधनु
,,	,,	स्थूलासूक्ष्मादि	स्थूलसूक्ष्मादि
५	५	निवहैवद्धस्वात्तैः	निवहैवेद्धस्वात्तैः,
८	१६	सर्वज्ञत्वात्म्ज्ञत्वादि,	सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादि

इति प्रस्तावनायाम्

मूलग्रन्थे टीकादौ चाशुद्धि पत्रम् ।

पृष्ठः	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३	१७	प्रायाश्चितस्य	प्रायाश्चितस्य
४	६	विशसाद्भवका	विशेषोद्भाव
५	१६	श्रवण	श्रवणम्
६	१८	देवर्षिः	देवर्षेः
,,	१६	स्वान्तो	स्वात्तः
१२	२२	परत्मारुपत्वम्	परात्मरूपत्वम्
१३	२०	अविघानिवृत्तिरुयं	निवृत्तिरूपम्,
१६	१८	ज्ञानमोत्त्यीरव	ज्ञानमोक्षयोरत्र
,,	२०	लिखिनपाठः	लिखितपाठः
१६	६	नियत्य	निवर्त्य
१६	१०	उभयङ्गम्	उभयङ्गमम्
२२	१४	घान्दोग्य	छान्दोग्य
२२	१५	सत्याम्	सत्यम्
२४	१६	असम्भनाया	असम्भावनाया
२६	,,	इत्यथः	इत्यर्थः

पृष्ठः	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२७	६	पृष्ठविरहन्तराम्	पृष्ठविरहन्नरो
,,	१६	कल्फते	मल्पते
,,	२०	सार्यमपरः	सर्पमपरः
२६	२	व्याक्त्त	व्याकृतदृष्टिः
३१	१६	सदद्वमित्रलक्तणम्	सदसदमित्रलक्तणम
३८	१२	प्याधिष्ठानम्	प्यधिष्ठानम्
४३	४	निरुप्पेत	निरुप्येत
,,	७	सोपधिक	सोपाधिक
,,	१५	कार्यत्वादित्यदौ	कार्यत्वादित्यादौ
४४	३-५	इन्दीयों	इन्द्रियों
,,	११	चेतन्यावच्छेदकत्वदे	चेतन्यावच्छेदकत्वादे
,,	२१	सत्तावच्छेदकत्वतत्ता	सत्तावच्छेदकत्वात्तत्त।
४५	१६	कमप्पावृतमिति	कमप्यावृतमिति
४७	१६	स्फुरणसम्वम्धः	स्फुरणसम्वन्धः
५५	६	हेतोवैशिष्टज्ञानम्	हेतोर्वैशिष्टज्ञानम् ।
५७	३	तैत्तिरया	तैत्तिरीया
५७	७	तैत्तिरीयोपतिषत्	तैत्तिरीयोपनिषत्
५८	१	उद्भवत्	उद्भवत्वम्
५८	१३	कैसा हीगा	कैसी होगी
५६	१३	सधारण	साधारण
७१	१८	विशेयाशम्	विशेष्यांशम् ।
७४	,,	हनुमतकन्ध	हनुमतस्कन्धारूढो
७८	१०	श्रति	श्रुति
७८	१४	भागत्यामप्रकारम्	भागत्यागप्रकारम्
८१	८	सिद्धानुपत्तितः	सिद्धानुपपत्तितः
८२	५	शून्यावादी	शून्यवादी

पृष्ठः	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
८३	१	हक्रूस्वरते	हक्रूस्वरूपे
८३	११	उ	श्रुति
८४	६	प्रमीये	प्रमिमे
८५	२	विनिश्चित्त	विनिश्चित्य
८६	१	मुपास्महे	समुपास्महे
९०	१६	पश्यमि	पश्यामि
९०	१७	रिदयर्थं	रिदमर्थम्
९८	७	उपधि	उपाधि
९९	११	पज्ञं	पाज्ञम्
१०२	३	सात्त	साक्षि
१०६	४	ब्रह्मस्मि	ब्रह्मास्मि
१०९	१०	वाह्येन्द्रिय	वाह्येन्द्रिय
१११	५	सिर	शिर
११९	३	अपने	आपने
,,	६	ववेशम्	प्रवेशम्
१३२	१४	स्वाावरोधं	स्वाविरोधम्
१३६	१३	गुणाादिक	गुणादिकम्
१३७	७	द्वितीयरुप	अद्वितीयरूप
१३९	२	अखिललाक	अखिललोक
१४२	१	हुं	हूँ
१४५	२	नालवर्णादि	नीलवर्णादि
१५०	७	पा	पायु
१५१	१	घ्राण	घ्राण
,,	१९	वा वसत्तं	वासत्तम्
१५२	५	इत्यादिरीति	इत्यादिरीति से
,,	२१	गच्छाम	गच्छामि

पृष्ठः	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
१५३	१३	चैतयछाया	चैतन्यछाया
,,	१४	हूं	हूँ
१५५	२१	तद्विलत्तरं	तद्विलयोत्तम्
,,	,,	सिद्धभियुक्तावपि	सिद्धमित्युक्तावपि
१५६	१३	प्रताति	प्रतीद्धि
,,	१५	ज्ञयं	ज्ञेयम्
,,	१६	तहि	तर्हि
१५६	,,	तज्ञानम्	तदज्ञानम्
१५९	७	अरोत्तज्ञान	अपरोत्तज्ञान
१६०	१२	यथोपदशितविचाराच्च	दर्शित
,,	१३	दशयितुम्	दर्शयितुम्
,,	१५	ब्रह्मति	ब्रह्मेति
१६९	२	विरष्ठः	वरिष्ठः
१७४	३	सविकल्यक समाधि	सविकल्पक समाधि
१७८	१	स्वगव	स्वगर्वं
,,	५	खङ्गस्तेन	खड्गस्तेन
,,	१२	योगस्प	योगस्य
		ाह	हि
१८०	१०	दष्टव्यः	द्रष्टव्यः
,,	११	दर्शित्वच्च	दर्शितत्वाच्च
१८२	४	पयाधा	पयोधौ

॥ समाप्तम् इतिशुद्धिपत्रम् ॥

(शीघ्र मुद्रित होंगे)

नारदीयभ…सूत्रवार्तिकम् ।

(तीन हजार लगभग वार्तिक श्लोक हैं । हिन्दी अनुवाद साथ में दिया गया है । इस में भक्तितत्व का बड़ी गहराई के साथ निरूपण किया है । सिद्धान्तनिरूपण में अधिकतर श्री श्रीधर स्वामी का ही अवलम्बन किया है । भक्ति जगत् में आजतक ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं हुआ है जो सिद्धान्तरहस्य को इस प्रकार सरल प्रांजल भाषा में अभिव्यक्त करता हो ।)

वेदान्तमन्दारतरुः सव्याख्यः

(लगभग छः हजार अनुष्टुप् श्लोकों का यह ग्रन्थ है । इस में वेदान्त की समस्त प्रक्रियाओं का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है)

ग्रन्थकर्ता के अन्य ग्रन्थ

चित्सुखीव्याख्या
खण्डनव्याख्या
अद्वैतसिद्धिगौडब्रह्मानन्दीव्याख्या
ब्रह्मसूत्रभाष्यार्थसंग्रहः
न्यायसूत्रभाष्यार्थसंग्रहः
प्रशस्तपादभाष्यार्थसंग्रहः
न्यायसिद्धान्तरत्नमाला
अनुमितिगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
अवयवगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सत्प्रतिपक्षगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
प्रामाण्यवादगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
साधारणगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सव्यभिचारगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
शेषगादाधर्याः टिप्पणी
सामान्यलक्षणाजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
केवलान्वयिजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
व्याप्त्यनुगमजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
व्युत्पत्तिवादतत्त्वप्रदीपः
शक्तिवादतत्त्वप्रदीपः
सर्वदर्शनसिद्धान्ततत्त्वविवेकः (तत्रे मे संप्रतिलिखिताः)
चार्वाकसिद्धान्ततत्त्वविवेकः शतश्लोकी
जैनसिद्धान्ततत्त्वविवेकः ,,
रामानुजसिद्धान्ततत्त्वविवेकः ,,
न्यायसिद्धान्ततत्त्वविवेकः ,,
प्रवचनग्रन्थ हिन्दी में :—
गायत्री प्रवचन
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिक प्रवचन
पञ्चदशी प्रवचन (कुछ प्रकरणों पर)
गीताप्रवचन (कतिपय अध्यायों पर)
भागवत प्रवचन (कतिपय प्रकरणोंपर)
भागवतसार

(अन्यान्य ग्रन्थ भी मौलिक तथा व्याख्यात्मक क्रमशः प्रकट होते रहेंगे)